विश्वंभरा विषय सूची

बीकानेर साहित्य सम्मेलन परीक्षा विभाग

बीकानेर साहित्य सम्मेलन की साक्षर, विद्याविनोद और विद्याभूषण परीक्षाओं में जो सम्मिलित होना चाहते हैं वे ३१-५-६३ तक अपना आवेदन पत्र भरदें। इसके बाद ८-६-६३ तक विलम्ब शुल्क के साथ आवेदन पत्र भेजा जा सकता है। परीक्षा २६ जून से प्रारंभ होगी।

बीकानेर सा० सम्मेलन
परीक्षा विभाग
सरदारशहर (राजस्थान)

परीक्षा मंत्री
आचार्य श्रीकारनाथ

विश्वम्भरा वार्षिक मूल्य ८) प्रत्येक अंक २)

प्रतिष्ठान :-

हिन्दी विश्वभारती, बीकानेर

विश्वंभरा विषय सूची

~2691

श्री :

विश्वंभरा

सा नो संस्कृतिर्विश्ववारा

विक्रम सम्वत् २०२०

थम वर्ष	हिमालयाङ्क	चतुर्थ अंक

हे मातृभूमे ?

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यात् योऽभिदासा न्मनसा यो वधेन । तं नो भूमे रन्धय पूर्व कृत्वरि ॥ १४ ॥

मा नःपश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्त रादधरादुत स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

जो हमसे द्वेष करें, सेना लेकर हमें
सताने आवें, जो मनमें हमारी बुराई चाहें
और जो हमें मारने को तैयार हों हे शत्रु
मर्दिनि मा उन्हें विनष्ट करदे ॥ १४ ॥

आगे पीछे और ऊपर नीचे कुछ पर कोई
प्रहार न करे । हे मातृभूमे ! मेरे लिये
तू सदा मंगल कर । और और
लुटेरे जो मेरे विरोधी हैं उनको मेरे किसी
रास्ते का पता न लगे । तू इन हिंसकों को
दूर से ही मारदे ॥ ३२ ॥ ([illegible])

॥ श्री ॥

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमा

(हिमाद्रि माहात्म्य)

दिव्यो नगाधिराजोऽयं सर्व
भूलोकस्य यशः शुभ्रं भारत
एष नः सर्वशक्तीनां पोषकः
युगेभ्यो रक्षकोऽस्माकं सर्वं सौर
देवनद्योऽत्र संभूताः पूज्या भ
अत्र सप्तर्षयोऽस्माकं मानसे स्ना
नर नारायणा यत्र तेपाते
अत्राश्रमाः सुखाः शान्ताः तीर्था
तपस्विनां तपोभूमिः शुभ्रः शा
प्रपञ्चपितरा यत्र पार्वती
अत्रैव जन्म लेभे च दुर्गा
स्वकृत्यैः संघशक्तेर्या महिम
द्रष्टव्यं नित्य मस्माभिः शान्तिर
कैश्चन क्रियते भग्ना शुचिमा
अजस्रं रक्ष्यमेतद्धि ध्याने भा
अत्र यात्रा सदा कार्या भुक्त्यै मु
हिमाद्रिस्मरणं नित्यं निधानं
विस्मरणञ्च विज्ञेयं निदानं
रक्षन्त्विमं गिरिवरं गिरिज
लीला विलासवसतिं मुनिभिः

सम्पादकीय

विश्वंभरा के इस अंक में केवल हिमालय से ही सम्बंध रखने वा
लेखों का चयन न होने पर भी हिन्दी विश्वभारती के अनुसंधान विभाग
यदि इसका नाम हिमालयाङ्क रक्खा है तो उसका कारण यही है कि वह २०
के नवविक्रम सम्वत को हिमालयान्वेषी वर्ष अथवा हिमालय संस्कृति संर
वर्ष के नाम से प्रसिद्ध देखना चाहता है।

हिमालय भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन का आदि स्रोत है
समस्तराष्ट्रों और प्रधानतया नवभारत का मङ्गल इसमें ही है कि वह हिमाल
की समस्त विशेषताओं से परिचित होकर और अपने पूर्वजों के समान प्रतिद
इसके शाश्वत सन्देश को सुनकर अपने आपको इसका एक योग्य सत्पुत्र सि
करने का सत्प्रयत्न करे।

तपःस्थल हिमालय साधन सम्पन्न जीवन और शंकर के शाश्वत संस्मर
का समुपदेशक है। वह नहीं चाहता कि भारत केवल इन्द्रियतृप्तिप्रधान सर्वम
मानवीय प्रवृत्तियों की ओर झुके और न वह यह चाहता है कि हम अपने अद
आत्मबल और दुर्गाशक्ति से शून्य होकर एक निःशक्त एवं मानहीन जीव
को विताने में अपनी सुरक्षा समझें।

हिमालय का इतिहास हमारा सबसे प्राचीन इतिहास है। जिस दि
से गंगा और यमुना ने इस पवित्र आर्य भूमी को सिञ्चित करना प्रारंभ कि
और जिस दिन से उसकी कन्दराओं में समाधि लगा कर हमारे सिद्धों ने
मरण शील प्राणी को मृत्युञ्जय का एक अमर अंश सिद्ध किया उस दिन
ही हिमालय हमारे साथ है और हम हिमालय के आदि पूजक हैं।

आज दानवों के दानवीय कुकर्मों और हमारी निजी उपेक्षा से इस पू
में विघ्न उपस्थित हुआ है। इस विघ्न के निराकरण के लिये प्रत्येक भारती
का कर्तव्य है कि वह पूर्ण आत्म परित्याग के साथ सैकड़ों वर्षों की पराधीनता
कारण उत्पन्न होने वाले आत्महीनता के समस्त निर्बल भावों को समूल उन्मूलि
करदें।

विद्याधरः

~~~
~~~

आचार्य प्रवर श्री [illegible] स्वामी एम. ए.

काव्यलिङ्ग तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की स्वरूपसमीक्षा

डा. श्री सदानन्द जी शर्मा ने 'विश्वम्भरा' के प्रथम वर्ष, तृतीय अंक में प्रकाशित "अर्थान्तर न्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों के स्वरूप की नव समीक्षा,, नामक निबन्ध में अर्थान्तर न्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों अलङ्कारों का भेद निराकाङ्क्षत्व व साकाङ्क्षत्व पर आधारित है। अर्थात् अर्थान्तरन्यास में जिस अर्थ का समर्थन किया जाता है वह अर्थ निराकाङ्क्ष होता है और काव्यलिङ्ग में समर्थनीय अर्थ साकाङ्क्ष होता है। अर्थान्तरन्यास में समर्थनीय अंश के निराकाङ्क्ष होने पर भी उस अर्थ में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिये दूसरे समर्थक वाक्य का उपादान किया जाता है, और काव्यलिङ्ग में प्रस्तुत अर्थ के साकाङ्क्ष होने से उस आकाङ्क्षा को शान्त कर उस अर्थ को युक्तिसङ्गत बताने तथा उसमें यथार्थता की निष्पत्ति के लिये हेतु विशेष व युक्ति विशेष का उपादान किया जाता है।

उपर्युक्त भेद का विवेचन करते हुए डा. साहिब ने समर्थनीय अर्थ की यथार्थता के विषय में समर्थन से पूर्व पाठक की दो प्रकार की धारणायें मानी हैं (१) विश्वासमयी धारणा तथा (२) विश्वासाभावमयी धारणा। इन दोनों धारणाओं में विश्वासमयी धारणा का समर्थन अर्थान्तरन्यास का विषय है। और समर्थन के बाद विश्वासमयी धारणा का दृढ़ विश्वास में परिणत हो जाना समर्थन का फल है। विश्वासाभावमयी धारणा का समर्थन काव्यलिङ्ग का विषय है। और समर्थन के बाद विश्वासाभावमयी धारणा का विश्वास में परिवर्तित हो जाना समर्थन का फल है। इन दोनों प्रकारों में प्रथम प्रकार अर्थान्तर न्यास का तथा द्वितीय प्रकार काव्यलिङ्ग का विषय है। विश्वासमयी धारणा के समर्थन की आवश्यकता इसलिये है कि उसमें यथार्थता की अनुभूति पाठक को हो, क्योंकि अनुभूति के बिना उसे ... नहीं हो सकता। इस

आचार्य प्रवर श्री सुरजनदास स्वामी एम. ए.

काव्यलिङ्ग तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की स्वरूपसमीक्षा

डा. श्री ब्रह्मानन्द जी शर्मा ने 'विश्वम्भरा' के प्रथम वर्ष, तृतीय अंक में प्रकाशित "अर्थान्तर न्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों के स्वरूप की एक नव समीक्षा,, नामक निबन्ध में अर्थान्तर न्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों अलङ्कारों का भेद निराकाङ्क्षत्व व साकाङ्क्षत्व पर आधारित है। अर्थात् अर्थान्तरन्यास में जिस अर्थ का समर्थन किया जाता है वह अर्थ निराकाङ्क्ष होता है और काव्यलिङ्ग समर्थनीय अर्थ साकाङ्क्ष होता है। अर्थान्तरन्यास में समर्थनीय अंश के निराकाङ्क्ष होने पर भी उस अर्थ में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिये दूसरे समर्थक वाक्य का उपादान किया जाता है, और काव्यलिङ्ग में प्रस्तुत अर्थ के साकाङ्क्ष होने से उस आकाङ्क्षा को शान्त कर उस अर्थ को युक्तिसङ्गत बताने तथा उसमें यथार्थता की निष्पत्ति के लिये हेतु विशेष व युक्ति विशेष का उपादान किया जाता है।

उपर्युक्त भेद का विवेचन करते हुए डा. साहिब ने समर्थनीय अर्थ की यथार्थता के विषय में समर्थन से पूर्व पाठक की दो प्रकार की धारणायें मानी हैं (१) विश्वासमयी धारणा तथा (२) विश्वासाभावमयी धारणा। इन दोनों धारणाओं में विश्वासमयी धारणा का समर्थन अर्थान्तरन्यास का विषय है। और समर्थन के बाद विश्वासमयी धारणा का दृढ़ विश्वास में परिणत हो जाना समर्थन का फल है। विश्वासाभावमयी धारणा का समर्थन काव्यलिङ्ग का विषय है। और समर्थन के बाद विश्वासाभावमयी धारणा का विश्वास में परिवर्तित हो जाना समर्थन का फल है। इन दोनों प्रकारों में प्रथम प्रकार अर्थान्तर न्यास का तथा द्वितीय प्रकार काव्यलिङ्ग का विषय है। विश्वासमयी धारणा के समर्थन की आवश्यकता इसलिये है कि उसमें यथार्थता की अनुभूति पाठक को हो, क्योंकि अनुभूति के बिना उसमें काव्यत्व नहीं बन सकता। इस

अनुभूति के लिये पहिले से विद्यमान विश्वासमयी धारणा को युक्तिविशेष के द्वारा दृढ करना आवश्यक है। अर्थान्तर न्यास में विश्वासमयी धारणा की दृढता के लिये समर्थन की आवश्यकता है इस धारणा का मूल काव्य प्रदीप के टीकाकार महवैद्यनाथ की तथा साहित्य दर्पण-कार विश्वनाथ की निम्न उक्तियाँ हैं:—

'उक्तार्थ दृढ प्रत्ययाय यत्र अर्थान्तर न्यसनं तत्र अर्थान्तरन्यासः।

काव्य प्रदीप प्रभा प. ३६२

'अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते।'

सा द, दशम परिच्छेद प. ५८१

समर्थनीय अर्थ की निराकाङ्क्षता में अर्थान्तरन्यास तथा साकाङ्क्षता मे काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है, इस भेद का निरूपण डा [illegible] ने साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के आधार पर किया है। श्री विश्वनाथ, ने अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग तथा अनुमान अलङ्कारों का भेद बताते हुए हेतु के तीन भेद माने हैं ज्ञापक, निष्पादक व समर्थक। ज्ञापक हेतु को अनुमानालङ्कार का निष्पादक हेतु को काव्यलिङ्गालङ्कार का तथा समर्थक हेतु को अर्थान्तरन्यासालङ्कार का विषय माना है। उदाहरण द्वारा इस भेद का स्पष्टीकरण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति' इत्यादि मे 'त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि दैवेन न क्षम्यते, दुर्दैव तुम्हारी समानता के दर्शन से मन बहलाव को भी सहन नहीं कर रहा है, यह चतुर्थ चरण का अर्थ साकाङ्क्ष होने से युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता, अतः आकाङ्क्षा के परिहार द्वारा इस अर्थ की समंजसता के लिये उपर्युक्त 'यत्त्वन्नेत्रसमान कान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्' इत्यादि वाक्य त्रयगत अर्थों की आवश्यकता है। अतः वाक्यत्रय का अर्थ चतुर्थचरण के अर्थ का निष्पादक है और यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसके विपरीत 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादि पद्य मे बिना विचारे काम नहीं करना चाहिये यह अर्थ उपदेश रूप होने से निराकाङ्क्ष है। अतः 'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' इस उत्तरार्द्ध का [illegible] के द्वारा पूर्वार्द्ध-प्रतिपादित अर्थ के समर्थन (दृढ प्रतीति) की [illegible] है।"

विश्वनाथ के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ समर्थनीय अर्थ निराकाङ्क्ष होता है वहाँ समर्थन करने वाला हेतु समर्थक कहलाता है और वह

उपर्युक्त तथ्यों पर क्रमशः विचार इसलिये प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विद्वान् पक्ष या विपक्ष में अपने विचार प्रस्तुत कर किसी यथार्थ निर्णय पर पहुंच सकें। केवल दुराग्रहमूलक खण्डन व मण्डन ही इस विवेचन का लक्ष्य नहीं है।

१. प्रथम तथ्य पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित साकाङ्क्षत्व निराकाङ्क्षत्वमूलक काव्यलिङ्ग अर्थान्तरन्यास का भेद सङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अर्थान्तरन्यास में भी समर्थनीय अर्थ सर्वत्र निराकाङ्क्ष नहीं होता। वहाँ भी बहुत जगह समर्थनीय अर्थ में सन्देह बना रहता है। अतः उस सन्देह की निवृत्ति के लिये समर्थक वाक्य की आकाङ्क्षा बनी रहती है। जैसेः—

अहन्नेको रणे रामो यातुधानाननेकशः ।
असहाया महान्तो हि यान्ति कामपि वीरताम् ॥

इस पद्य में 'रामने एकाकी होते हुए भी अनेक राक्षसों को मार दिया' इस समर्थनीय वाक्यार्थ में 'अकेला राम अनेक व्यक्तियों को कैसे मार सकता है। इस अनुपपत्ति की संभावना होने से इस का निश्चयात्मक ज्ञान श्रोता या पाठक को नहीं बन सकता। किन्तु जब असहाय महापुरुषों में अनिर्वचनीय वीरता आ जाती है, इस समर्थक वाक्यार्थ का उपादान करते हैं तब पूर्वोक्त सन्देह का निराकरण होकर उसका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है ! अतः समर्थ्य वाक्यार्थ में अनुपपत्ति संभावनामूलक सन्देह का निराकरण कर निश्चयात्मक ज्ञान के लिये अर्थान्तरन्यास में भी समर्थक वाक्यार्थ की आका-ङ्क्षा होती है। इस तरह जब सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन स्थल में भी समर्थनीय वाक्यार्थ को समर्थक वाक्यार्थ की आकाङ्क्षा है तब विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में तो आकाङ्क्षा होगी ही। जैसे—

[illegible]
[illegible]

इस उदाहरण में 'गुणी [illegible] [illegible] का स्वभाव ही [illegible] है इस [illegible] वाक्यार्थ में 'गुणी [illegible] होते हुए कैसे दूसरे का [illegible] कर सकता है, [illegible] अनुपपत्ति की संभावना [illegible] है [illegible] वाक्यार्थ [illegible] है।

समर्थन चाहे सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से हो अथवा कार्य का कारण से या कारण का कार्य से तो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है। और जहां समर्थनीय अर्थ साकाङ्क्ष हो वहाँ उस आकाङ्क्षा को दूर कर उस अर्थ में औचित्य बतलाने वाला हेतु निष्पादक होता है और उस स्थल में काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। यही अर्थान्तरन्यास व काव्यलिङ्ग में मौलिक भेद है। प्राचीन आलङ्कारिक मम्मट अप्पय्यदीक्षित आदि ने जो यह कहा है कि समर्थ्य व समर्थक वाक्यों में जहाँ सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता हैं वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है, वह उचित नहीं है। डा. साहिब ने भी पूर्णतया इसी तथ्य को स्वीकृत किया है। उन्होंने साकाङ्क्षता निराकाङ्क्षता मूलक इस भेद को अभिनव रूप देते हुए समर्थन से पूर्व पाठक के हृदय में विश्वासमयी व विश्वासाभावमयी दो धारणाओं की कल्पना की है। और इस अभिनव कल्पना का मूल काव्य प्रदीप प्रभाकर की वह उक्ति है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

उपर्युक्त सन्दर्भ से चार तथ्य निकलते हैं जिनका डा. साहिब ने अपने निबन्ध में यत्र तत्र निर्देश किया है:—

१. अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों में क्रमशः समर्थनीय अर्थ की निराकाङ्क्षता तथा साकाङ्क्षता पर आधारित है।

२. अर्थान्तरन्यास में समर्थन से पूर्व समर्थनीय अर्थ में पाठक की विश्वासमयी धारणा होती है और काव्यलिङ्ग में समर्थन से पूर्व समर्थनीय अर्थ के प्रति विश्वासाभावमयी धारणा।

३. अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का मूल समर्थनीय अर्थ की समर्थन से पूर्व निराकाङ्क्षता है अतः यह निराकाङ्क्षता यदि कार्य रूप समर्थनीय अर्थ तथा कारण रूप समर्थनीय अर्थ में भी समर्थन से पूर्व विद्यमान है तो वहाँ भी अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है, काव्यलिङ्ग नहीं, जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिक मम्मट आदि ने माना है।

४. प्राचीन मम्मट, अप्पय्यदीक्षित आदि आलङ्कारिकों ने समर्थन का कोई स्वरूप न बतलाकर केवल इतना कह दिया है कि सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध में अर्थान्तरन्यास तथा कार्य कारण भाव सम्बन्ध में काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

उपर्युक्त तथ्यों पर क्रमशः विचार इसलिये प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विद्वान् पक्ष या विपक्ष में अपने विचार प्रस्तुत कर किसी यथार्थ निर्णय पर पहुंच सकें। केवल दुराग्रहमूलक खण्डन व मण्डन ही इस विवेचन का लक्ष्य नहीं है।

१. प्रथम तथ्य पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित साकाङ्क्षत्व निराकाङ्क्षत्वमूलक काव्यलिङ्ग अर्थान्तरन्यास का भेद सङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अर्थान्तरन्यास में भी समर्थनीय अर्थ सर्वत्र निराकाङ्क्ष नहीं होता। यहाँ भी बहुत जगह समर्थनीय अर्थ में सन्देह बना रहता है। अतः उस सन्देह की निवृत्ति के लिये समर्थक वाक्य की आकाङ्क्षा बनी रहती है। जैसे:—

अहन्नेको रणे रामो यातुधानाननेकशः ।
असहाया महान्तो हि यान्ति कार्येषु वीरताम् ॥

इस पद्य में 'रामने एकाकी होते हुए भी अनेक राक्षसों को मार दिया' इस समर्थनीय वाक्यार्थ में 'अकेला राम अनेक व्यक्तियों को कैसे मार सकता है। इस अनुपपत्ति की संभावना होने से इस का निश्चयात्मक ज्ञान श्रोता या पाठक को नहीं बन सकता! किन्तु जब असहाय महापुरुषों में अनिर्वचनीय वीरता आ जाती है, इस समर्थक वाक्यार्थ का उपादान करते हैं तब पूर्वोक्त सन्देह का निराकरण होकर उसका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है! अतः समर्थ्य वाक्यार्थ में अनुपपत्ति संभावनामूलक सन्देह का निराकरण कर निश्चयात्मक ज्ञान के लिये अर्थान्तरन्यास में भी समर्थक वाक्यार्थ की आकाङ्क्षा होती है। इस तरह जब सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन स्थल में भी समर्थनीय वाक्यार्थ को समर्थक वाक्यार्थ की आकाङ्क्षा है तब विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में तो आकाङ्क्षा होगी ही। जैसे—

[illegible] ।
[illegible] ॥

इस उदाहरण में 'दुःखी स्वयं [illegible] दूसरे का स्मरण ही [illegible] है इस समर्थ्य वाक्यार्थ में 'दुःखी स्वयं [illegible] होते हुए कैसे दूसरे का स्मरण कर सकता है, [illegible] [illegible] है [illegible] ।

[illegible] का निराकरण करके [illegible]
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] का निराकरण कर समर्थनीय [illegible]
[illegible] है। निराकाङ्क्ष ज्ञान को [illegible] करने के लिये [illegible]
[illegible] ही है।

इसीलिये विद्वानों ने अर्थान्तरन्यास का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि 'समर्थनीय वाक्यार्थ में संभावित अनुपपत्ति का परिहार कर उसका उपपादन निराकाङ्क्ष ज्ञान कराने के लिये अर्थान्तर का उपादान प्रस्तुत किया जाता है उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। जैसे –

अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यद् अर्थान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यासः। बालबोधिनी प्रदीपोद्योत।

'अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानयोः सामान्यविशेषयोरुपपादनार्थं तदन्यतरस्य अर्थान्तरस्योपन्यासोऽर्थान्तरन्यासः' काव्य प्रकाश विवरण।

अलङ्कारसर्वस्वकार राजानक रुय्यक ने भी अर्थान्तरन्यास की व्याख्या करते हुए निर्दिष्टस्यामिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकापूर्व पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य तत्समर्थनं सुपादानं न स्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा या सोऽर्थान्तरन्यासः।' इस रूप से 'प्रकृत' का विशेषण 'समर्थनार्ह' दिया है। और अर्थान्तरन्यास में प्रकृत वस्तु समर्थन योग्य क्यों है इस की उपपत्ति बतलाते हुए टीकाकार जयरथ ने स्पष्ट किया है कि प्रकृत वस्तु साकाङ्क्ष है अतः उसके उपपादन (समर्थन) की अपेक्षा है। और उपपादन का स्वरूप बतलाते हुए भी उसने निराकाङ्क्षता बतलाना ही अर्थ किया है। इससे यह सिद्ध है कि काव्यलिङ्ग की तरह अर्थान्तरन्यास में भी समर्थनीय अर्थ में साकाङ्क्षता रहती है और समर्थक वाक्यार्थ के द्वारा उस साकाङ्क्षता का निवारण कर निराकाङ्क्षता समर्थ्य वाक्यार्थ में बतलाई जाती है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी

---

1. समर्थनार्हेति– साकाङ्क्षत्वादुपपादनापेक्षत्वात् [illegible] अलं. स. विम. टी. पृ. ११८
2. [illegible]निति एवमेवापादि [illegible] अलं. स.विम.टी पृ. ११८

इस उक्ति के द्वारा इस तथ्य का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण तर्कवागीश ने भी 'समर्थ्यते-उपपाद्यते-संशयायोग्यत्वादिरूपानुपपत्तिनिराकरणेन दृढ प्रतिपत्ति विषयः क्रियते इति यावत्' इस उक्ति के द्वारा प्रस्तुत अर्थ में संशय, अयोग्यता आदि अनुपपत्ति का निराकरण निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करना समर्थन है, यह स्पष्ट बतलाया है। इस प्रकार सर्वथा निराकांक्षता अर्थान्तरन्यास में नहीं होती। इसीलिये अलङ्कार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने बतलाया है कि 'लोकोत्तरं चरितम्'[1] इत्यादि अर्थान्तरन्यास के उदाहरण में विशेष रूप अगस्त्यवृत्तान्त[2] के कथन न करने पर 'पुरुषों' का चरित्र ही प्रतिष्ठा का कारण है उच्च कुल नहीं' इस सामान्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती। जहाँ प्रकृत अर्थ स्वतःसिद्ध होता है उसके उपपादन की आवश्यकता नहीं किन्तु प्रतीतिविशदता के लिये विशेष अर्थ का उपादान किया जाता है वहाँ उदाहरण अलङ्कार होता है।

अर्थान्तरन्यास में समर्थन से पूर्व समर्थनीय अर्थ में पाठक की विश्वासमयी धारणा होती है और काव्यलिङ्ग में विश्वासाभावमयी धारणा' डा. साहिब की इस धारणा का मूल जैसा मैं पहिले बतला चुका हूँ, काव्यप्रदीप प्रभाकर की यह उक्ति हैः—

'उक्तार्थे दृढ प्रत्ययाय यत्रार्थान्तरन्यसनं तत्रार्थान्तरन्यासः' इति।

किन्तु यहाँ प्रत्यय का अर्थ ज्ञान है न कि विश्वास। दृढ प्रत्यय का भी अर्थ यहाँ पर निश्चयात्मक ज्ञान है न कि दृढ विश्वास। इसी तथ्य को पण्डितराज जगन्नाथ ने 'समर्थनं चेदमेवमनेवं वा स्यादिति संशयस्य प्रतिबन्धक इदमित्थमेवेति दृढ प्रत्ययः निश्चय इति यावत्।' इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण तर्कवागीशने इसीलिये

---

१. लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां,
पुंसः कुलं नहि निमित्तमुदात्ततायाः।
वातापितापनमुनेः कलशात् प्रसूति,
लीलायितं पुनरमुष्य समुद्रपानम्॥   अलङ्कारसर्वस्व पृ० १४०

२. [illegible]

समर्थ्यते' की व्याख्या करते हुए 'संशयायोग्यत्वादिरूपानुपपत्ति निराकरणेन दृढप्रतिपत्तिविषयः क्रियते' इस वाक्य में निश्चयात्मक ज्ञानपर्याय दृढप्रतिपत्ति शब्द का प्रयोग किया है। अन्य स्थल में भी सोपपत्तिकः- विधीयमान संशयनिराकरणेन निश्चयविषयः' ऐसा कहा है। इन निदर्शनों से सिद्ध है कि प्रभाकर की उक्ति में दृढ प्रत्यय का निश्चयात्मक ज्ञान अर्थ ही है दृढ विश्वास नहीं। अतः इस मूल पर उपयुक्त धारणायें बनाना सङ्गत प्रतीत नहीं होता।

यदि प्रत्यय का अर्थ यहां विश्वास मान भी लें तो भी विश्वास निश्चयात्मक ज्ञान से ही हो सकता है संशयात्मक व अयोग्यतामूलक ज्ञान से नहीं यह तथ्य मानना ही पड़ता है। इस कसौटी पर विचार करें तो जब तक निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो जाता तब तक समर्थन से पूर्व अर्थान्तरन्यास में पाठक की विश्वासमयी धारणा कैसे बन सकती है।

अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अर्थान्तरन्यास में भी समर्थन से पूर्व प्रस्तुत अर्थ में पाठक की विश्वासमयी धारणा नहीं होती। जहां प्रस्तुत अर्थ सामान्य होता है वहां तो समर्थन से पूर्व विश्वासमयी धारणा की कल्पना भी करना दूर रहा किन्तु जहां प्रस्तुत अर्थ विशेष रूप होता है वहां–

> अहन्नेको रणे रामो यातुधानानिकशः।
> असहाया महान्तो हि यान्ति काष्ठां धीरताम्।

इस उदाहरण में भी 'अकेले रामने संग्राम में अनेकों राक्षसों को मार डाला' इस अर्थ में पाठक को विश्वास तब तक नहीं हो सकता जब तक कि 'असहाय महापुरुषों में विलक्षण (अनिर्वचनीय) वीरता आजाती है' इस सामान्य के द्वारा उसका समर्थन नहीं कर दिया जाता। इसीलिये अनुपद ही जयरथ के उदाहरण से स्पष्ट कर दिया गया है कि समर्थन के बिना अर्थान्तरन्यास में प्रकृत अर्थ की सिद्धि ही नहीं होगी विश्वास की तो बात ही क्या। काव्यलिङ्ग में भी समर्थन से पूर्व सर्वत्र विश्वासाभावमयी धारणा का होना आवश्यक नहीं है। जैसे–

> न किंचित् न करोत् [illegible] न [illegible]।
> [illegible]

इस [illegible] के [illegible] में [illegible] का [illegible] [illegible]
[illegible] से तथा मृत्यु से नहीं हुआ है इस प्रकार यहाँ से किसी भी प्रकार [illegible]
[illegible] नहीं कहा जा सकता। क्योंकि [illegible] के समर्थन में पूर्व [illegible]
विद्यमान है कि [illegible] का [illegible] [illegible] से नहीं हुआ है किन्तु [illegible]
ही [illegible] का [illegible] हुआ है। फिर भी '[illegible]' के द्वारा [illegible]
समर्थन किया गया है।

'अर्थान्तरन्यास का प्राण[illegible] का मूल समर्थनीय अर्थ की समर्थन में पूर्ण निराकाङ्क्षता है। यह निराकाङ्क्षता सामान्य विशेषभाव की भांति कार्यकारण भाव सम्बन्ध में भी विद्यमान हो तो वहाँ भी काव्यलिङ्ग अलङ्कार न मानकर अर्थान्तरन्यास ही मानना चाहिये' यह तृतीय तथ्य भी युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रथम तथ्य का विश्लेषण व विवेचन करते हुए पहले ही बतलाया जा चुका है कि अर्थान्तरन्यास में भी सर्वत्र सर्वथा निराकाङ्क्षता नहीं होती। उदाहरणों द्वारा इसका स्पष्टीकरण भी किया जा चुका है। स्वयं भी विश्वनाथ ने कारण द्वारा कार्य के समर्थन में जो उदाहरण दिया है उस पर विचार करने से निराकाङ्क्षता अर्थान्तरन्यास का मूल है यह सिद्ध नहीं होता। श्री विश्वनाथ ने:-

> 'पृथ्वी स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनाम्,
> त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
> दिक्कुंजराः कुरुत तद्द्वितये दिधीर्षा,
> देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

इस उदाहरण में पृथ्वी की स्थिरता आदि कार्य का समर्थक 'राम द्वारा शिव धनुष पर प्रत्यंचा चढाना' कारण को बतलाया है। किन्तु क्या यहाँ कार्य निराकाङ्क्ष है। विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भी कार्य सर्वथा निराकाङ्क्ष नहीं है। क्योंकि यहाँ पृथ्वी की स्थिरता, शेषनाग का पृथ्वी को धारण करना आदि कार्य नहीं हैं किन्तु 'भव, धारय, दिधीर्षां कुरुत' इत्यादि शब्दों में प्रवर्तनार्थक लोट्व लिङ् लकार के प्रयोग द्वारा प्रवर्तना कार्य पडता है। पृथ्वी शेषनाग आदि का प्रवर्तनारूप कार्य कारण के बिना सर्वथा अनुपपन्न है अत एव कारण साकाङ्क्ष है अर्थात् कार्य को अपनी सिद्धि के लिये कारण की अपेक्षा है। इसी लिये अलङ्कार सर्वस्वकार ने अर्थान्तरन्यास में भी प्रकृत अर्थ को

समर्थन योग्य बतलाता है अर्थात् उसके समर्थन की अपेक्षा है, न कि वहाँ प्रस्तुत अर्थ स्वतः सिद्ध (निराकाङ्क्ष) होता है अतः प्रस्तुत अर्थ की साकाङ्क्षता व निराकाङ्क्षता के आधार पर काव्यलिङ्ग व अर्थान्तरन्यास का भेद नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुपपत्ति संभावना मूलक संशयादि की निवृत्ति के लिए अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत अर्थ को अप्रस्तुत अर्थ की आकाङ्क्षा या अपेक्षा है। इस प्रकार दोनों ही अलङ्कारों में प्रकृतार्थोपपादकता समान है। अतः इनमें ही यही भेद मानना उचित है कि जहाँ सामान्यविशेष भाव सम्बन्ध समर्थ्य व समर्थक में हो वहाँ अर्थान्तरन्यास तथा जहाँ समर्थ्य व समर्थक में कार्यकारणभाव सम्बन्ध हो वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

यदि यह कहा जाय कि जब प्रकृतार्थोपपादकता समानरूप से दोनों जगह रहती है तब सामान्य विशेषभाव सम्बन्ध व कार्यकारणभाव सम्बन्ध इस सम्बन्ध भेद के कारण ही दो अलङ्कार मानना कैसे सङ्गत हो सकता है तो इस का यही उत्तर है कि चमत्कार मूलक सामान्य भेद के कारण भी अलङ्कारों का भेद होता है। जैसे उपमा, अनन्वय, व उपमेयोपमा में उपमान व उपमेय के सादृश्य के समान होने पर भी अवान्तर भेदों के कारण तीनों को भिन्न भिन्न अलङ्कार माना गया है। कार्यकारणभाव में अर्थान्तरन्यास को स्वीकार करने वाले अलंकार सर्वस्वकार तथा विश्वनाथ भी कार्यकारणभाव में काव्यलिङ्ग अलंकार भी स्वीकार करते हैं। जैसे विश्वनाथ अनुमान, काव्य-लिङ्ग व अर्थान्तरन्यास तीनों अलङ्कारों को हेतुत्वमूलक मानते हुए भी हेतु के अवा-न्तर (ज्ञापक, निष्पादक, समर्थक) भेदों के कारण तीनों को पृथक अलङ्कार मानते हैं। दृष्टान्त व अर्थान्तरन्यास में समर्थन की समानता होने हुए भी जहाँ सामान्य से विशेष अथवा विशेष से सामान्य का समर्थन होता है वहाँ अर्थान्तर-न्यास, तथा जहाँ विशेष से विशेष का समर्थन होता है वहाँ दृष्टान्त इस प्रकार पृथक दो अलंकारों की सत्ता स्वीकृत की गयी है। इसी प्रकार यदि सामान्य विशेष भाव व कार्यकारण भाव के कारण दो अलङ्कारों की सत्ता मानी जाय तो क्या आपत्ति है? इस सन्दर्भ से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्यलिङ्ग व अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों का पारस्परिक भेद बन सकता है, और इस भेद को स्वीकार करने पर कार्यकारणभाव में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार नहीं बन सकता।

और सूक्ष्म विचार करने से दोनों अलङ्कारों में अनुपपत्ति के [illegible] होने पर भी सूक्ष्म भेद दिखता है। [illegible] अनुपपत्ति [illegible]

होती है किन्तु स्वतः सर्वथा अनुपपत्ति नहीं होती वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है
और जहाँ प्रकृत अर्थ स्वतः अनुपपन्न होता है वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता।
एक में अनुपपत्ति की संभावना है जो कि संशयादि रूप से प्रकट होती है
उसका निराकरण समर्थक रूप अर्थान्तर के द्वारा किया जाता है। जैसे '[illegible]
को रामः' इत्यादि उदाहरण में एकाकी रामने अनेक राक्षसों को मार दि[illegible]
इस अर्थ की सर्वथा अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि असाधारण वीर के द्वारा [illegible]
कार्य किया जा सकता है। किन्तु जब तक राम में असाधारण वीरता नहीं
बतला दी जाती तब तक इस अर्थ में संशयात्मक अनुपपत्ति बनी ही रहती है,
और समर्थक अर्थ की आकांक्षा बनी रहती है। समर्थक वाक्य दृष्टान्त द्वारा
राम में असाधारण वीरता बतला कर उस संशय का परिहार कर समर्थ[illegible]
का निश्चयात्मक ज्ञान करा देता है और उसमें विश्राम भी उत्पन्न कर देता है
किन्तु काव्यलिङ्ग में समर्थक हेतु के बिना प्रकृत अर्थ की सर्वथा अनुपपत्ति
रहती है। जैसे -

[illegible]

[illegible]

आपाततः अनुपपन्न है। इस भेद को मानने पर कार्यकारणभाव में अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार नहीं बन सकता। क्योंकि 'पृथ्वी' स्थिरा भव, इत्यादि उदाहरण में पृथ्वी आदि को स्थिरता में प्रवृत्त करना रूप कार्य, बिना कारण के सर्वथा अनुपपन्न है। अपने अपने कार्यों में स्वतः प्रवृत्त पृथिव्यादि को उस कार्य में सहसा प्रवृत्त करना (प्रवर्तकत्व) रूप कार्य किसी विशेष कारण के बिना कैसे घटित हो सकता है। अतः कार्यकारण भाव में हेतूपपादन के बिना कार्य रूप वाक्यार्थ के सर्वथा अनुपपन्न होने से काव्यलिङ्ग ही बन सकता है अर्थान्तरन्यास नहीं। प्रकारान्तर से भी काव्यलिङ्ग व अर्थान्तरन्यास का भेद किया जा सकता है। जैसे:-

जहाँ अनुपपन्नमानस्व से सम्भावित सामान्य व विशेष के उपपादन के लिए क्रमशः विशेष रूप व सामान्य रूप उदाहरण वाक्य का उपन्यास किया जाता वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। और जहाँ स्वतः अनुपपन्न अर्थ के उपपादन के लिये वाक्यार्थ या पदार्थ रूप हेतु का उपादान किया जाता है किन्तु उदाहरण वाक्य का उपादान नहीं किया जाता वहां काव्यलिङ्ग होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अर्थान्तरन्यास में समर्थन के लिए उदाहरण वाक्य का उपन्यास किया गया है और काव्यलिङ्ग में उदाहरण वाक्य का उपन्यास नहीं। उदाहरण वाक्य का उपन्यास दृष्टान्त में भी होता है अतः उससे अर्थान्तरन्यास का भेद करने के लिये यह स्वीकार करना पड़ा कि दृष्टान्त[1] में सामान्य का सामान्य से व विशेष का विशेष से समर्थन किया जाता है और अर्थान्तरन्यास में सामान्य से उपर्युक्त भेद को मानने पर भी कार्यकारणभाव में काव्यलिङ्ग ही बन सकता है अर्थान्तरन्यास नहीं, क्योंकि कार्यकारणभाव द्वारा समर्थन में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव नहीं बन सकता।" इसलिये विश्वरूप कार ने कहा है:-

'अनुपपद्यमानस्य [illegible]
[illegible]
[illegible]

'[illegible]' इस [illegible]
[illegible]

[illegible]

डा० रामगोपाल शर्मा : दिनेश : एम. ए., पी.एच्. डी.

काव्य की परम्परा

य धर्म-साधना के इतिहास में शिव का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण
नव की आस्तिकता के प्राचीनतम स्रोत हैं। प्रागैतिहासिक काल
भारतीय जनता विभिन्न रूपों में उनकी पूजा करती आ रही है।
राग्य, योग आदि किसी भी मार्ग से उनकी साधना की जा
ाकार और निराकार का भी उनके सम्बन्ध में कोई मौलिक
देवताओं में वे महादेव हैं, त्रिदेव-मंडल में शीर्षस्थ और ईश्वर
। भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख स्रोतों का उनसे
, संगीत आदि कलाओं तथा आयुर्वेद, व्याकरण
दि उपदेष्टा माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति की
वे सबसे पुराने सूत्र हैं। उनको आर्य और अनार्य
न कहा जा सकता है। पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से
भारत में शिव-मन्दिरों और तीर्थों का प्रसार है तथा
भेद बिना सभी लोग पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के
ते हैं।

संस्कृति के समान ही भारतीय साहित्य में भी शि
घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद से अब तक जितना
उत्तराधिकारिणी राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखा गया
अखण्ड परम्परा मिलती है। यह परम्परा ऋग्वे
है। उसके पंचम मण्डल के सूक्त ६०, मंत्र ५

सं अश्वनिष्टाय एते,
मर्द्धन्तरा वपुषे सौभगाय।
पिता इव पा रुद्र एषां
सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

में उदाहरण रूप अर्थान्तर का उपन्यास किया जाता है। 'अर्थान्तरन्यास' की व्युत्पत्ति भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। अतः कार्यकारणभाव काल्पनिक अलङ्कार मानना प्राचीनों का सर्वथा सङ्गत है।

डा. साहित्य का यह कथन 'ये विद्वान् समर्थन का स्वरूप न बतलाकर केवल यह कह देते हैं कि अर्थान्तरन्यास में.... ....समर्थन होता है' भी उचित नहीं प्रतीत होता। इन आलङ्कारिकों ने समर्थन का स्वरूप बतलाया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अर्थान्तरन्यास का स्वरूप बतलाते हुए 'समर्थनं चेदमेवमेवमनेवं वा स्यादिति संशयस्य प्रति बन्धक इदमित्थमेवेति प्रत्यय निश्चय इति यावत्। रस गङ्गाधर।

डा० रामगोपाल शर्मा : दिनेश : एम. ए., पी.एच्. डी.

शिव-काव्य की परम्परा

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में शिव का अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है। वे मानव की आस्तिकता के प्राचीनतम स्रोत हैं। प्रागैतिहासिक काल से अद्यावधि भारतीय जनता विभिन्न रूपों में उनकी पूजा करती आ रही है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग आदि किसी भी मार्ग से उनकी साधना की जा सकती है। साकार और निराकार का भी उनके सम्बन्ध में कोई मौलिक विवाद नहीं है। देवताओं में वे महादेव हैं, त्रिदेव-मंडल में शीर्षस्थ और ईश्वर की प्राचीनतम कल्पना। भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख स्रोतों का उनसे सम्बन्ध है। नाट्य, नृत्य, संगीत आदि कलाओं तथा आयुर्वेद, व्याकरण इत्यादि विद्याओं के वे आदि उपदेष्टा माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति की एकता और अखण्डता के वे सबसे पुराने सूत्र हैं। उनको आर्य और अनार्य दोनों संस्कृतियों का संगम कहा जा सकता है। पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से सुदूर दक्षिण तक समस्त भारत में शिव-मन्दिरों और तीर्थों का प्रसार है तथा वय, वर्ग एवं, धर्म के भेद बिना सभी श्रद्धा और विश्वास के साथ उनकी पूजा करते

अर्थात्- "हम सब ज्येष्ठ, कनिष्ठ, लघु, उच्च के भेद से रहित हैं। हम सब मिलकर सौभाग्य के लिए उन्नतिशील हों। कल्याणकारी श्रेष्ठ-कर्मा रुद्र परमेश्वर हम सबके पिता हैं तथा सबको सुख देने वाली, सुन्दर दूध पिलाकर पोषण करने वाली प्रकृति हम सब की मां है।

ऋग्वेद में रुद्र सम्बन्धी इस प्रकार के कई मंत्र हैं। इन मंत्रों में शिव-काव्य के वे प्रारम्भिक स्रोत छिपे हुए हैं, जिनसे उद्‌गमित होकर स्तवन-परक शिवकाव्य एवं कथा परक शिव काव्य की दो भिन्न धाराएं अखण्ड रूप में भारतीय साहित्य की विराट् भूमि पर प्रवाहित होती हुई अब तक चली आ रही हैं। उपर्युक्त मंत्र के भावों में उस कल्पना के बीज भी छिपे हुए हैं जिसने सिन्धु-घाटी की सभ्यता में पृथक पृथक पूजित स्त्री-देवता एवं पुरुप-देवता-को प्रकृति और रुद्र या शक्ति और शिव के दाम्पत्य सूत्र में बांधा और उसके आधार पर अनेक शिव- कथाओं का विकास हुआ।

वेदों के पश्चात् संस्कृत में जो लौकिक काव्य लिखा गया उसमें वाल्मीकि रामायण आदि-काव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। इस ग्रंथ में राम कथा के साथ शिव काव्य के स्तवन परक तथा काव्य-परक दोनों रूपों का विकास मिलता है। महाभारत में भी विभिन्न शिव-कथाओं का कई पर्वों में रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्य प्रमुख पात्र कृपा या वरदान पाने के लिए बड़ी श्रद्धा के साथ के साथ शिव का स्तवन करते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में भी मंगलाचरण आदि के रूप में और पुराणों में सर्वत्र के उत्कृष्ट शिव काव्य उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

शिव काव्य की यह स्फुट परम्परा आगे चलकर स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में विकसित हुई। फलतः स्तवन-परक तथा कथा परक दोनों प्रकार के अनेक मौलिक शिव-काव्यों का प्रणयन हुआ।

स्तवन परक स्वतन्त्र शिव काव्य में प्राचीनता की दृष्टि से बाण के चण्डीशतक का विशेष महत्व है। इसमें शक्ति के संदर्भ में शिव की महिमा का वर्णन मिलता है। प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य ने भी "शिवापराधक्षमापन स्तोत्र" भवान्यष्टक, 'आनन्दलहरी' या 'शिवानन्द लहरी' तथा 'शिवभुजंगस्तोत्र' आदि कई शिव-स्तवन ग्रन्थ लिखे, जिनमें शिवानन्द लहरी का विशेष महत्व

है। इस ग्रन्थ में आत्मोद्धार के लिए आचार्य शंकर ने शिव के प्रति जो भाव प्रकट किए हैं, उनके आगे कृष्ण के प्रति सूर की उक्तियाँ भी नीरस जान पड़ती हैं।

स्तवन परक अन्य शिव-काव्यों में कश्मीरी कवि पुष्पदंत का "शिव-महिम्नःस्तव," आनन्दवर्धन का 'देवीशतक,' उत्पलदेव का स्तोत्रावली, जगद्धर-भट्ट का' स्तुतिकुसुमांजलि" आदि ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में शिव के सर्व-कल्याणकारी और उदार रूप का पूर्ण तन्मयता से चित्रण किया गया है तथा उनकी शक्ति को जीव मात्र की रक्षा में तत्पर दिखलाया गया है। प्रसंग वश शिव और शक्ति के निवास-स्थल हिमालय शिखर कैलास की सुषमा, उसके साथ प्रकृति की मनोरमता तथा गंगा की पवित्रता आदि के सरस वर्णनों को भी स्थान मिला है। भूमि के मुकुट इस हिमालय की ओर आंख उठाने वाले असुरों का संहार करने में शिव की शक्ति किस प्रकार सफल होती है, यह समस्त स्तवन काव्यों की वर्णना का परम लक्ष्य है।

स्वतन्त्र प्रबन्धकाव्यों की परम्परा में कालिदास-कृत 'कुमारसंभव' का नाम सबसे पहले आता है। यह १७ सर्गों का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। विद्वानों ने इसके प्रारम्भिक आठ सर्गों को ही कालिदास कृत माना है। इस महाकाव्य में शिव और पार्वती के दाम्पत्य सूत्र में जुड़ने के लिए किए गए तप तथा जीवन-गत संयम, योग एवं सदाचरण का ओज पूर्ण वर्णन करके कवि दोनों का लौकिक रीति से परिणय कराता है। उसके पश्चात् अष्टम सर्ग में, असुर-संहार में सक्षम सन्तान की उत्पत्ति को ध्येय बनाकर दाम्पत्य-संभोग का विस्तृत वर्णन किया गया है विष्णु, इन्द्र, आदि देवताओं की मनोरथ, सिद्धि ही इस संभोग का मूल हेतु है। अन्त में कुमार की उत्पत्ति और उसके द्वारा देव-सेना का नेतृत्व ग्रहण कर अत्याचारी तारकासुर का संहार दिखाया गया है। इस प्रकार यह काव्य हिमालय के इस ओजस्वी वर्णन से प्रारम्भ होकर-

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य,
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

सृष्टि-कल्याण के लिए असुर-संहार के साथ समाप्त होता है। भावाभिव्यंजना, काव्य-कला एवं महान उद्देश्य की दृष्टि से यह महाकाव्य संस्कृत-साहित्य का ही नहीं विश्व साहित्य का एक श्रेष्ठ रत्न है।

"कुमारसंभव' के पश्चात शिव-सम्बन्धी जिन प्रबन्ध-काव्यों का विशेष महत्त्व है, उनमें किरातार्जुनीय, हरविजय, श्रीकण्ठचरित, 'पार्वतीरुक्मिणीय' है 'हरचरित चिन्तामणि' आदि महाकाव्य आकार तथा कवित्व की दृष्टि से ही नहीं, जीवन की विराट् और रमणीय अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी संस्कृत के श्रेष्ठतम ग्रन्थ हैं। इन सभी महाकाव्यों में आततायी और आक्रामक असुरों के वध के लिए देव-पौरुष की तत्परता, तपस्या, एक निष्ठता अद्भुत शौर्य एवं पराक्रम का ओज पूर्ण वर्णन किया गया है। भारविकृत किरातार्जुनीय में अर्जुन अनाचारी कौरवों का संहार करने के लिए तपस्या करके शिव से पाशुपत अस्त्र प्राप्त करते हैं। ५० सर्गों के विशाल महाकाव्य हर विजय में कश्मीरी कवि रत्नाकर ने शिव-द्वारा अंधकासुर-वध की कथा को चित्रित किया है। मंखक कवि ने श्रीकण्ठ चरित्र नामक महाकाव्य में शिव द्वारा त्रिपुर संहार की कथा का २५ सर्गों में अत्यन्त मनोरम तथा ओज-पूर्ण शैली में वर्णन किया है। 'पार्वती रुक्मिणीय' में विद्यामाधव ने शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी के विवाहों को वर्णन का विषय बनाया है, किन्तु वास्तव में यह ग्रन्थ अप्रत्यक्ष रुप से अनाचारों को कुचलने के लिए नई शक्ति के वरण का महाकाव्य है। जयरथ नाम के एक कश्मीरी कवि ने ३२ सर्गों का 'हरचरितचिन्तामणि' महाकाव्य लिखकर एक ओर तो अपनी अद्भुत काव्य-दक्षता का परिचय दिया है और दूसरी ओर उसने जीवन की सफलता और आस्था की गहरी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि प्रदान की है।

संस्कृत के विराट् परिवेश में स्तवन तथा कथा की विभिन्न भूमियों से होती हुई शिव काव्य धारा जब हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हुई तो उसे एक विचित्र स्थिति का सामना करना पड़ा। धार्मिक विश्वासों की अराजकता के कारण लोग यह भूल चुके थे कि साकार और निराकार में कोई भेद नहीं है, न भक्ति और योग के लक्ष्यों में कोई विरोध है। वे विष्णु और उनके अवतारों को शिव से पृथक् मानकर परस्पर झगड़ रहे थे। शिव-काव्य-धारा ने इस वि
को सम्हालने के लिए अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की र

अतः भक्ति कालीन हिन्दी काव्य में शिव–काव्य एक अन्तर्धारा के रूप में विकसित हुआ। तुलसी की 'रामचरितमानस' शिव–पार्वती के सम्वाद के रूप में लिखी गई। उसके आरम्भ में शिव-पार्वती का विवाह, मध्य में शिवोपासना की स्थापना और अन्त में रामराज्य के रूप में जीवन में शिव तत्व की अवतारणा दिखाने का यही रहस्य है। तुलसी के हनुमान शिव के ही एकादश रुद्र रूप हैं, जिनकी शक्ति पर राम की जय निर्भर है। 'पार्वतीमंगल' में तुलसी ने शिव पार्वती के विवाह का वर्णन करके शिव काव्य धारा की स्वतन्त्र परम्परा को भी आगे बढाया। उनकी 'विनयपत्रिका' आदि कृतियों में शिव स्तवन की परम्परा मिलती है। सूर ने अपने पदों में शिव कथा और शिव भक्ति का वर्णन किया है। जायसी ने भी रतनसेन की सफलता शिव की कृपा पर निर्भर दिखाई है तथा कबीर का निरंजन शिव का ही एक रूप है।

रीतिकाल में शिवकाव्य की धारा सेनापति, भूषण, मतिराम, आदि की स्फुट कविताओं में विहार करती हुई अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में विकसित हुई। इस काल के शिव काव्यों मे शंकर पचीसी, शिवचौपाई, शंभु-पचीसी शैलीनिधि, शंभु–शतक, शिवसई, आदि ग्रन्थों का विशेष महत्व है।

आधुनिक काल में शिव काव्य परम्परा में अनेक अनूदित और मौलिक श्रेष्ठ काव्यों के नाम जुड़े। दोहा–चौपाई की शैली में लिखित पं० गौरीनाथ शर्मा का 'शिवपुराण' नामक ग्रन्थ इस युग का प्रथम मौलिक विशालकाय महाकाव्य है, जो सन् १६०१ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ को हमें शिव चरित मानस कहना चाहिए। काव्य कला की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ 'रामचरित मानस' की टक्कर का महाकाव्य है। आधुनिक काल के अन्य महत्वपूर्ण शिव काव्यों में पार्वती, तारकवध, एवं सारथी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन महाकाव्यों में कथा की घटना को महान काव्य पद्धति पर आधारित करके जीवन की गंभीर व्याख्या के साथ महान उद्देश्य की अभिव्यक्ति की गई है। पार्वती में कुमार संभव की कथा के साथ वर्णन प्रारम्भ होता है और त्रिपुर संहार तक की कथा समान आरोह से चलती है। तारक-वध में आततायी असुरों की अनीति के दमन के लिए मानवीय स्नेह एवं अहिंसा की शक्ति का चित्रण किया गया है। 'सारथी' महाकाव्य मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य त्रिपुर–अनीति तथा आधुनिक लौह सभ्यता के परिवेश में जीवन-मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत

करता है। ये दोनों महाकाव्य मानव संस्कृति पर अचानक छा जाने वाले सं-
के प्रति सचेत हैं तथा असुर संहार की भूमिका में विश्व कल्याण का
दिखलाते हैं। 'पार्वती' का कवि कहता है:-

जाग उठो बन मानवता के प्रलयंकर सेनानी।
गूंज उठे नभ सभी गायत्री शान्तिमयी कल्याणी॥
कोटि बाहु अवतार ईश के कोटि शस्त्र तुम धारो।
कोटि कोटि विक्रम से अपने भू का भार उतारो॥

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त आधुनिक कालीन हिन्दी-शिव-काव्यों में उदय शंकर भट्ट के 'विजयपथ' एवं चतुर्भुजदास की शर्वाणी नामक खण्ड-काव्यों तथा कुमार संभव सार एवं 'रूपांतर' नामक भावानुवादों का भी पर्याप्त महत्व है। स्तवन-परक शिवकाव्यों में अनूप शर्मा की 'शर्वाणी' तथा शंकरसिंह का 'शंकर-शतक' आदि कृतियाँ भाव और कला की दृष्टि से उच्चकोटि की कही जा सकती है। स्फुट शिव काव्य की परम्परा में नाथूराम शर्मा शंकर, पन्त, गुप्त, अनूप, दिनकर, एवं आरसी आदि कवियों की वे राष्ट्रीय कविताएँ सदैव अविस्मरणीय रहेंगी, जिनमें शिव को आदर्श मानकर भारतीय शौर्य, साहस, पौरुष एवं पराक्रम के भाव ओजस्वी वाणी में व्यक्त किए गए हैं।

★ त्रिपुरान्तकः शिवः ★

कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः
उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः ॥ १ ॥
गंगाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः
हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशोऽनघः ॥ २ ॥
व्योम केशो महासेनजनकश्चारुविक्रमः
मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः ॥ ३ ॥
भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः

यह वसुन्धरा का नाभिस्थल है और यहीं पर चतुर्मुख का केन्द्र एवं शंकर का महान् कार्मुक है।

वाल्मीकि के इस व्यापक वर्णन से प्रतीत होता है कि वे इस के ऐतिहासिक महत्व की उपेक्षा न करते हुए इसके उस दिव्य स्वरूप का दर्शन कर रहे हैं जिसके कारण यह योगियों का समाधिस्थल और तपस्वियों का महान् तपःस्थल बन गया।

वाल्मीकि के इस दिव्य हिमालय पर न जाने कितने यज्ञ हो चुके हैं, कितने अनुष्ठान हो चुके हैं, कितनी कठोर तपस्याएं हो चुकी हैं और कितना मनन और गहन चिन्तन हो चुका है।

शक्ति और ज्ञान के उस क्रीडा क्षेत्र में परम पावनी भागीरथी और अखण्डशक्ति भगवती पार्वती का जन्म हुआ। हिमावान् अपनी दोनों कन्याओं गंगा और पार्वती को प्राणों से भी अधिक प्रिय और परम पूज्य समझते हैं। गंगा त्रिपथगा के रूप में लोक लोकान्तरों को पवित्र करती है। शक्ति के जितने भी विभिन्न रूप संस्कृत साहित्य में मिलते हैं उन सबका न्यूनाधिक सम्बन्ध इस गिरीन्द्र से पाया जाता है। सप्तशती का कवच "प्रथम शैलपुत्रीति" के नाम से ही प्रारम्भ हुआ है। महा काली, महा लक्ष्मी और महा सरस्वती चरित्रों की यही लीला भूमि है। किसी अज्ञात समय में जब महिषासुर ने देवों की शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया था तब देवों की प्रार्थना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश के शरीर से जो तेज निकला वह पुञ्जीभूत होकर यहीं अष्टादशभुजा महा लक्ष्मी के रूप में आविर्भूत हुआ था।

मांकी को प्रस्तुत करना ही है। प्रारम्भ में ही वे हिमालय का स्मरणः—

> अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
> पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

देवात्मा के रूप में करते हैं। यदि यह कहा जाय कि इस अनन्य काव्य का नायक हिमवान् ही है तो अत्युक्ति नहीं होगी। "अपने उन्नत शिखरों के समान उन्नत मानस[1] होने के कारण यह हर तरह के घात प्रतिघातों[2] को सहने के बाद भी सदा अविचल रहता है और यह चर और अचर सब तरह के प्राणियों का आधार "है। समस्त धरित्री के सारभूत[3] हिमालय को प्रजापति ने केवल शैलराट ही नहीं बनाया अपितु यह देख कर कि यज्ञ के प्रत्येक अङ्ग की पूर्ति करने की क्षमता रखता है उसने इसको यज्ञ में सब देवताओं के समान बराबर का भागीदार बना दिया।

कालिदास ने इस महान हिमालय को जिस जिस रूप में देखा उन सब रूपों के दर्शन के लिये प्रत्येक पाठक का कर्त्तव्य है कि वह कुमार संभव का अनुशीलन अवश्य करे।

कालिदास के समय भारत स्वयं सुरक्षित था। भारतीयों के लिये कालिदास का नारा था कि "स्ववीर्यं गुप्ता हि मनोः प्रसूतिः,, "मनुवंशज भारतीय किसी दूसरे की सहायता से नहीं अपितु अपने पराक्रम से स्वयं सुरक्षित रहते थे,, निज पराक्रम और निजी बुद्धि वैभव पर अवलम्बित भारत ने इसलिये कालिदास के समय में यह नहीं विचारा कि 'उत्तर में खड़ा हुआ हिमालय भारत का प्रहरी है,, शीतोष्ण दोनों को समान रूप में सहने की शक्ति रखने वाले भारत ने उस समय यह भी नहीं किया कि "हिमालय ध्रुव की ओर से आने वाली शीत लहरों को रोक कर भारत की रक्षा करता है,, और न धन धान्य से परिपूर्ण भारत ने उस समय यह सोचा कि "दक्षिण समुद्र से उत्तर की ओर भागते हुए मेघों को रोक कर हिमालय इन्हें यहीं [illegible] कर

१. [illegible]

२. [illegible]

३. [illegible]

उठ बैठे जैसे रात्रि के अन्त में उत्तम निद्रा के बाद सोने वाले नवचेतना से सम्पन्न होकर उठजाते हैं।

यह केवल कविकल्पना नहीं है । महर्षि चरकने भी यहाँ की औषधों का विशद वर्णन किया है और आज भी आयुर्वेद वनस्पतियों के अन्वेषक इस की दिव्यस्थाली में नवनव वनस्पतियों का अनुसंधान करते रहते हैं।

हिमालय की उंचाई को नापने का मापदण्ड भी प्राचीन भारत का पृथक् ही था। आज हम इसकी उंचाई का मूल्यांकन भौगोलिक और सामरिक दृष्टि से करते हैं परन्तु महाकवि भारवि ने नगाधिराज की इस उच्चता में उस दिव्यस्थली का दर्शन किया था जहाँ देवों और मानवों का एक महनीय संगम होता है। उनकी दृष्टि में हिमालय इसीलिये श्रेष्ठ है कि असीम उंचाई पर रहने वाले देवों और पृथ्वी पर नीचे रहने वाले मानवों के मिलने का यह एक सामान्य स्थान है अन्यथा उनके पास परस्पर देखने का और कोई साधन नहीं था ।

> क्षितिनभः सुरलोक निवासिभिः
> कृतनिकेत मदृष्ट-परस्परैः ।
> प्रथयितुं विभुतामिति निर्मितम्
> प्रतिनिधिं जगतामिति शंभुना ।। किरात ६/२०

वास्तव में यह स्वर्ग और भूलोक का संधिस्थल रहा है इसके ऐतिहासिक प्रमाण पुराणों और महाभारतादि की कथाओं में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। धर्मराज युधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण इसकी चोटी पर से ही किया था।

प्राचीन भारत ने इस देवत्व की प्राप्ति के लिये ही इस हिमालय को सर्वोत्कृष्ट माना था। ऋषि और महर्षियों ने अतएव यहाँ सहस्त्रों वर्षों की *समाधि लगाकर अनेक दिव्य शक्तियों और विभूतियों की प्राप्ति की थी और* आजभी यहाँ के प्रशान्त वातावरण में कुछ इसी प्रकार की अनुभूतियें होती ही रहती हैं।

मानव संस्कृति विज्ञान के रचयिता श्री मल्लिनाथ चौमाल ने प्रमाणों से सिद्ध किया है कि हिमालय ही पौराणिक सुमेरु है। मेरुस्थान में गति होने के कारण किन्तु अब यह मेरु भारतवर्ष से बहुत अन्तर हट गया है।

सागरमाथा- हिमालय के गौरीशंकर शिखर का सागरमाथा नाम भी प्रचलित है। हिमालय को सागरमाथा संभवतः इसलिये कहा जाता है कि समुद्र में से सबसे पहले यही शिखर बाहर निकला था और यही सुमेरु पर्वत था। मा. सं. विद्या.

हिमवान के दिव्य स्वरूप के प्रतिपादक इन वर्णनों से अतिरिक्त जो पाठक हिमवान् के प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे पुराणों का अनुशीलन करें और महाकवि बाण की कादम्बरी का पारायण करें। आज हमारे इस देवतात्मा पर्वतराज की शाश्वत शान्ति और इस की शाश्वत शुक्लिमा को उत्तर की ओर से उठने वाली एक नयी आंधी ने आकर घेरा है। भारत का आधुनिक संस्कृत कवि इससे भयभीत नहीं। उसका यह दृढ विश्वास है कि हिमालय का दिव्य स्वरूप इससे चिर काल के लिये आच्छन्न नहीं हो सकता पर इसके साथ ही अब वह इस बात के लिये सतर्क है कि युगानुकूल पूजन के प्राचीन प्रकार में परिवर्तन भी अवश्य करना होगा। अचिर प्रकाशित शत श्लोकी हिमाद्रि-माहात्म्यम् में विद्याधर शास्त्री ने घोषित किया है "यह ठीक है कि भारत इस मायामय संसार में माया का सहारा लेकर जीना नहीं जानता और तूफानों के आने पर क्षण भर विचलित होकर वह फिर अपनी शान्ति की साधना में ही निरत हो जाता है। परन्तु आज इसको अपनी इस गति में परिवर्तन करना होगा।

"युगधर्मे विरुद्धेयं किन्त्वेषा साम्प्रतं गतिः
राष्ट्र स्वातन्त्र्य रक्षार्थे परिवृत्तिमपेक्षते ॥
छलच्छिद्रान्विता सर्वा साम्प्रतं कलिसन्ततिः
व्यवहारे तथा सार्थे धर्मो नैकविधः स्मृतः ॥ हिमाद्रिमा. अ. ३

आजतक हिमालय ने हमारी रक्षा की है पर अब इसकी रक्षा हमको करनी होगी। हमारी शक्ति से ही यह सशक्त रहेगा अन्यथा यह अपनी समस्त साधनामयी विशेषता को खो बैठेगा और इसका यह दिव्य स्वरूप विकृत हो जायगा।

नगेन्द्रोऽसौ सदारक्षः पार्थैरपि पतेत्यपि । ४/१८
प्रतिबिम्बितो देश निर्वैतेऽपि निरीक्ष्य । ४/१९

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा एम्.ए. पी.एच् डी.

"क्या अनुमान काव्यलिंग से एक पृथक् अलंकार है ?

आलंकारिकों ने काव्यलिंग तथा अनुमान में भेद किया है तथा इस भेद का प्रमुख आधार इन अलंकारों में विद्यमान हेतुओं का भेद माना है। विश्वनाथ के अनुसार काव्यलिंग में हेतु निष्पादक होता है तथा अनुमान में यह ज्ञापक होता है।[1] कमलाकरभट्ट के अनुसार काव्यलिंग में हेतु कारक होता है तथा अनुमान में यह ज्ञापक होता है[2]।

पहले हम विश्वनाथ के मत को लेते हैं तथा देखते हैं कि उनके निष्पादक हेतु तथा ज्ञापक हेतु में भेद है अथवा नहीं। विश्वनाथ ने निष्पादक हेतु का अर्थ स्पष्ट करते समय निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है:-

> "यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
> मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
> येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
> स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ।"

विश्वनाथ के अनुसार यहां प्रथम तीन वाक्य चतुर्थ वाक्य के निष्पादक हेतु हैं। चतुर्थ वाक्य का अर्थ है कि 'विधाता' तुम्हारे सादृश्य से उत्पन्न मेरे विनोद को भी नहीं सह सकता। इस वाक्यार्थ की यथार्थता पर हमें सहसा विश्वास नहीं होता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे हेतु अथवा हेतुओं का उपादान हो जिनसे प्रस्तुत अर्थ में यथार्थता का ज्ञान हो। प्रथम तीन वाक्य यही कार्य करते हैं। इनसे चतुर्थ वाक्य के अर्थ में यथार्थता उत्पन्न हो

---

1. [illegible]
2. [illegible]

जाती है। इस प्रकार प्रथम तीन वाक्य चतुर्थ वाक्य के अर्थ के निष्पादक नहीं अपितु उसकी यथार्थता के निष्पादक हैं। 'विधाता के द्वारा तुम्हारे सादृश्य से उत्पन्न विनोदमात्र के असहन' के रूप में चतुर्थ वाक्य का अर्थ तो पहले से ही ही विद्यमान है। क्योंकि यदि विधाता की यह असहनशीलता पहले से विद्यमान न हो तो प्रथम तीन वाक्यों में वर्णित स्थिति ही उत्पन्न न हो। वस्तुतः विधाता की असहन-शीलता प्रथम तीन वाक्यार्थों के मूल में रहकर उन वाक्यों में वर्णित स्थिति को उत्पन्न करती है। अतः प्रथम तीन वाक्यों के अर्थ से चतुर्थ वाक्य का अर्थ उत्पन्न नहीं होता अपितु पूर्व विद्यमान वह उनसे ज्ञात होता है। इस प्रकार हेतु की निष्पादकता यहां उसकी ज्ञापकता से भिन्न नहीं। प्रथम तीन वाक्यों का अर्थ चतुर्थ वाक्य के अर्थ की यथार्थता का तो निष्पादक है परन्तु उस अर्थ का यह ज्ञापक है।

अनुमान मे ऐसा ही होता है। यदि हम अनुमान के प्रसिद्ध उदाहरण 'पर्वतोऽयम् वह्निमान् धूमवत्त्वात' को लें तो ज्ञात होगा कि यहां धूम 'पर्वतोऽयम वह्निमान' इस वाक्यार्थ की यथार्थता का तो निष्पादक है परन्तु पर्वत में वह्नि के सद्भाव का ज्ञापक है। अतः विश्वनाथ के निष्पादक हेतु तथा ज्ञापक हेतु में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं।

विश्वनाथ के उपर्युक्त उदाहरण पर अनुमान की प्रक्रिया भी लागू होती है। यह इस प्रकार है:- यहां प्रथम तीन वाक्य चतुर्थ वाक्य के विशेष रूप हैं। चतुर्थ वाक्य में वर्णित विधाता की असहनशीलता एक सामान्य भाव है। प्रथम तीन वाक्यों में वर्णित परिस्थितियां इसी सामान्य भाव के विशेष रूप हैं। हम प्रथम वाक्य में विधाता की असहनशीलता का एक रूप देखते हैं द्वितीय में दूसरा देखते हैं तथा तृतीय मे तीसरा देखते हैं और इससे यह अनुमान करते हैं कि विधाता तुम्हारे सादृश्य से उत्पन्न मेरे विनोद को भी नहीं सह सकता। यह अनुमान कुछ वैसा सा ही है जैसा धूम तथा वह्नि के साहचर्य के भूयोदर्शन से हम यह अनुमान करें कि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि'।

यहां विरोधी यह शंका कर सकते हैं कि विधाता की असहनशीलता की दो तीन परिस्थितियों के आधार पर विधाता के सामान्य भाव का अनुमान उचित नहीं। क्योंकि कोई ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है जहां विधाता

असहनशीलता प्रकट न हो। जिस प्रकार मैत्री के दो चार पुत्रों का श्याम देखकर हम यह नहीं कह सकते कि 'यत्रमैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' ही बात यहां है। जिस प्रकार 'यत्रमैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' में धि के सद्भाव के कारण कारण हेतु व्यभिचरित है उसी प्रकार यहां है।

इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यहां प्रश्न यह नहीं है कि हमें शास्त्र के नियमों के अनुसार चतुर्थ वाक्य के अर्थ का निश्चय हो जाता अथवा नहीं अपितु प्रश्न यह है कि यहां सम्बन्धित पात्र को चतुर्थ वाक्य अर्थ का निश्चय हो जाता है अथवा नहीं। इसके उत्तर में हमें यही कहना कि उसे निश्चय हो जाता है। इसीलिए वह चतुर्थ वाक्य का उच्चारण ता है। उसका यह निश्चय उसका अनुमान ही है। पाठक भी पात्र के इस नुमान में सन्देह नहीं करता। यदि प्रस्तुत श्लोक में तर्कशास्त्र के अनुसार हेतु व्यभिचार दोष माना जाए तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यहां यह भिचार दोष प्रकट नहीं होता। इसीलिए जगन्नाथ ने कहा है कि:- "व्यभि-रित्वेऽपि हेतोस्तदानीं व्यभिचारास्फूर्तेः।" रसगंगाधर पृ० ४६८

अब हमें यह देखना है कि तर्कशास्त्र के अनुसार कारक हेतु का क्या प है, ज्ञापक हेतु से उसका क्या भेद है तथा काव्यलिंग में प्रयुक्त हेतु क्या शास्त्र का कारक हेतु ही होता है। कारक हेतु का अर्थ है कार्य को उत्पन्न ने वाला हेतु। उदाहरणतः मिट्टी घट को उत्पन्न करती है। अतः वह घट का रक हेतु है। इसी प्रकार दण्डचक्रादि भी घट के कारक हेतु हैं क्योंकि वे की उत्पत्ति में सहायक हैं। कारक हेतु कार्य से पूर्व विद्यमान कार्य को उत्प-करता है। इसके विपरीत ज्ञापक हेतु पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता परन्तु न्न पदार्थ का ज्ञान कराता है। उदाहरणतः 'पर्वतोऽयम् वह्निमान धूमवत्त्वात्' वाक्य को लें तो विदित होगा कि यहां धूम वह्नि को उत्पन्न नहीं करता न्तु उत्पन्न वह्नि का ज्ञान कराता है।

काव्यलिंग के उदाहरणों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहां कारक तु का उपर्युक्त स्वरूप विद्यमान नहीं रहता। 'यत्वन्नेत्रसमानकान्ति' इस उदा-रण में प्रथम तीन वाक्यों में वर्णित हेतु दैव की असहनशीलता को उत्पन्न हीं करते अपितु उत्पन्न असहनशीलता का ज्ञान कराते हैं।

जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यलिंग के उदाहरणों पर विचार करने प्रतीत होगा कि यहां भी कारक हेतु का उपर्युक्त स्वरूप विद्यमान नहीं रह उनके द्वारा प्रस्तुत काव्यलिंग का उदाहरण निम्नलिखित है:-

> 'विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै
> रवाच्यानि व्रात्यैः सपुलकमपास्यानि पिशुनैः ।
> हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियताम्
> कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे ॥'
>
> रसगंगाधर पृ० ४६०

यहां 'त्वं जगति पुनरेका विजयसे' के द्वारा भागीरथी का उत्कर्ष कहा गया है । 'लोकों के पापों को निरन्तर दूर करते हुए भी भागीरथी श्रम का अनुभव नहीं करती' इस रूप मे विद्यमान पूर्व अर्थ भागीरथी के इस उत्कर्ष को उत्पन्न नहीं करता किन्तु पूर्व विद्यमान उसका ज्ञान कराता है । भागीरथी में उत्कर्ष तो पहले से ही है । क्योंकि यदि उसमें उत्कर्ष न हो तो वह लोकों के के पापों को दूर ही न कर सके । हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि यहां पूर्व वाक्यों का अर्थ 'त्वं जगति पुनरेका विजयसे' इस वाक्यार्थ की यथार्थता को उत्पन्न करता है ।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाए कि काव्यलिंग मे कारक हेतु का उपर्युक्त स्वरूप सम्भव है तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह कारक हेतु का भी कार्य करेगा । काव्यलिंग में किसी अर्थ के लिए हेतु का उपादान होता है यह तो सभी स्वीकार करते हैं । यह हेतु उस अर्थ का कारक हेतु है इससे इस बात में अन्तर नहीं आता कि हमें उस अर्थ का अनुमान अथवा ज्ञान भी उसी हेतु से होगा ।

इससे यह स्पष्ट है कि काव्यलिंग मे निष्पादक अथवा कारक हेतु बताकर तथा अनुमान में ज्ञापक हेतु बताकर इन दोनों अलंकारों में भेद करना उचित नहीं ।

जगन्नाथ ने काव्यलिंग तथा अनुमान में अन्य प्रकार से भेद करने का

अतः यह अनुमिति काव्यव्यापार की गोचर नहीं होती। उसका ज्ञान तो केवल कारण के द्वारा हो जाता है।[1]

इस सम्बन्ध में हमारा कहना है कि काव्यलिंग में कवि हेतु का जो उपादान करता है वह किसी न किसी उद्देश्य से करता है। अतः यदि उस कारण से श्रोता को अनुमिति होती है तो हमें यही मानना पड़ेगा कि उस कारण के द्वारा अनुमिति का श्रोता को बोध कराना कवि का उद्देश्य था। अतः यह अनुमिति काव्यव्यापार की गोचर ही होगी।

जगन्नाथ कहते हैं कि अनुमिति काव्यलिंग के ज्ञान से उत्पन्न होती है। हमारा उनसे प्रश्न है कि अनुमिति से पृथक् काव्यलिंग का यह कौनसा स्वरूप है जिससे वे अनुमिति की उत्पत्ति मानते हैं। काव्यलिंग से अनुमिति की उत्पत्ति वे तभी मान सकते हैं जब काव्यलिंग अनुमिति से पृथक् का कोई स्वरूप बताया जाए। परन्तु ऐसा कोई स्वरूप है नहीं। अतः काव्यलिंग से अनुमिति की उत्पत्ति न मान कर इन दोनों को एक मानना उचित होगा।

जगन्नाथ ने काव्यलिंग तथा अनुमान में एक और भेद किया है। वह इस प्रकार है:- काव्यलिंग में अनुमिति श्रोतृनिष्ठ होती है तथा अनुमान में वह वक्तृनिष्ठ होती है।[2]

इसके उत्तर में हमारा कहना है कि प्रथम तो अनुमिति श्रोतृनिष्ठत्व तथा वक्तृनिष्ठत्व को काव्यलिंग तथा अनुमान का विभेदक मानना उचित नहीं। क्योंकि यदि इन दोनों दशाओं में अनुमिति होती है तो दोनों अलंकारों को पृथक् मानने का कोई उचित आधार नहीं रह जाता। दूसरे काव्यलिंग के उदाहरणों में भी अनुमिति वक्तृनिष्ठ मानी जा सकती है। अतः इन दोनों अलंकारों का उपर्युक्त विभेदक तत्त्व भी युक्तिसंगत नहीं।

---

१. काव्यलिंगे [illegible] न कविना [illegible]। [illegible] न [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। रसगंगाधर पृ० ४६६

२. [illegible] रसगंगाधर पृ० ४६६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्यलिंग तथा
में भेद नहीं।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि काव्यलिंग तथा अनुमान
और काव्यलिंग में विद्यमान निष्पादक हेतु अनुमान में विद्यमान ज्ञापक
भिन्न नहीं तो काव्यलिंग का अन्तर्भाव अनुमान में क्यों नहीं कर दिया
इसके उत्तर में हमारा कहना है कि कवि का प्रमुख उद्देश्य अपनी उक्ति को
बनाना अथवा उसमें पाठक का विश्वास उत्पन्न करना होता है। इसके लिए
वह हेतु का उपादान करता है। इस हेतु से उक्ति में विद्यमान अर्थ का
होता है और फलतः उस उक्ति में यथार्थता आ जाती है। इस प्रकार
का अन्तिम उद्देश्य प्रस्तुत उक्ति में यथार्थता की निष्पत्ति करना है।
दृष्टि कोण से हमने इस हेतु को निष्पादक हेतु कहा है तथा इस अलंकार
काव्यलिंग कहा है।

व्रतपवर श्री उदयवीरजी शास्त्री

ाष्ट्र रक्षा के वैदिक वर्णन

अपनी स्वतन्त्रता और रक्षा का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति को निभाना वश्यक है। व्यक्ति समाज का केन्द्र बिन्दु है। व्यक्तियों को मिला कर ही ाज बनता है और व्यक्तियों के छोटे बडे समूहों से ही राष्ट्र बनता है भारतीय कृति के अनुसार समाज और राष्ट्र की महत्वपूर्ण इकाई व्यक्ति है। व्यक्ति यथा वत् निर्माण पर भारतीय लोककर्ता-पुरुषों ने अतएव सबसे अधिक ान दिया है। राष्ट्र की रक्षा, दृढता और स्थायित्व के लिये राष्ट्र के प्रत्येक क्ति में ऐसे गुणों का उद्घाटन आवश्यक है जिन से वह सबल, और सक्षम । व्यक्ति दुर्बल है तो राष्ट्र भी दुर्बल होगा और यदि व्यक्ति सशक्त है तो ट्र भी सशक्त हो वैसा ही होगा। भारतीय ऋषियों ने राष्ट्र की रक्षा के लिये लिये यही उद्घोष किया कि:—

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति"

राजा राष्ट्र की रक्षा ब्रह्मचर्य एवं तप के द्वारा ही करता है। का सीधा अभिप्राय यही है कि राष्ट्र-रक्षा के लिये संयम और र्वक कष्टों के सहन करने की क्षमता होना अत्यावश्यक है। न वल राजा प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह व्यवस्था रही है कि इन गुणों का सम्पादन अवश्य करे। आयु का प्रथम भाग इन्हीं गुणों के ाधान व उद्भावन के लिये निर्धारित था, इसमें उपेक्षा करना राष्ट्र घातक मझा जाता था, जो ऐसा करता, अथवा न कर सकता था, समाज में उसकी तिष्ठा गिरजाती थी, राष्ट्र की अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकार से वह ञ्चित समझा जाता था।

राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि यह केवल राजा का कार्य है, अकेला राजा राष्ट्र की रक्षा में सर्वथा पंगु है। राजा तो प्रतीक मात्र है, राष्ट्र की रक्षा का उत्तरदायित्व राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर होता है, शासन प्रणाली चाहे प्रजातन्त्र हो या राजतन्त्र शासन प्रणाली में

भी शासन तो राजतन्त्र के समान कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में ही रहता है उनमें भी राष्ट्रशासन का संचालक कोई एक ही प्रधान व्यक्ति रहता है। फलतः राष्ट्र की रक्षा का भार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर है, और प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर उन गुणों का संपादन करना है, जिनसे वह राष्ट्र-रक्षा के लिये सक्षम हो।

जिस समय भारत का प्रत्येक व्यक्ति सक्षम था उस समय के भारत का शासन पूर्व में वर्तमान आसाम से लेकर पश्चिम में वर्तमान ईरान के पश्चिम तक और उत्तर में हिमालय के परवर्ती भागों से दक्षिण में सागर पर्यन्त फैला हुआ था। उससे भी शतियों पूर्व महा-भारत काल में प्रायः समस्त वर्तमान एशिया का भूभाग तत्कालीन भारतीय शासन के प्रभाव में था, यह बात भारत युद्ध में उन प्रदेशों के माण्डलिक राजाओं के सम्मिलित होने से प्रमाणित है। इतने बड़े विशाल भूखण्ड का शासन एक सूत्रता से संचालित होना उसके महान राष्ट्र और वहां के निवासी समाज की राष्ट्रीय भावनाओं का द्योतक है।

भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च साहित्य-वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में की गई प्रार्थना, प्रार्थना करने वालों में राष्ट्रियता की उद्दाम भावना का द्योतक है, मन्त्र है—

> "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्; आ राष्ट्रे
> राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधि महारथो जायताम्
> दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
> जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो
> जायताम्, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु,
> ... ओषधयः पच्यन्ताम् ... फलताम्

कार्यों में समर्थ हों, हमारे घोड़े शीघ्रगामी हों, राष्ट्र की महिला घर-परिवारों को संभालने वाली, एवं शासन सूत्र में हाथ बंटाने वाली हों। प्रत्येक युवक विजय की कामना रखने वाला, सभा सोसाइटियों में श्रेष्ठ और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला उत्साही साहसी वीर हो, राष्ट्र के प्रत्येक खण्डमें ठीक समय पर उपयुक्त वर्षा हो, राष्ट्र में औषधि वनस्पति अन्न आदि खूब फूलें फलें समय पर पकें, अकाल में नष्ट न हो जायें, सब प्रकार से हमारे योगः क्षेम की सिद्धि हो।

इस मन्त्र में समस्त राष्ट्र की पुष्टि और ऐश्वर्य के लिये प्रार्थना है। मन्त्र में कोई प्रार्थना, अकेले प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के लिये नहीं की गई, समस्त राष्ट्र के लिये प्रार्थना है, 'नः राष्ट्रे' हमारे राष्ट्र में ऐसा हो, प्रायः वेदों में सर्वत्र कोई प्रार्थना एकवचन द्वारा प्रयुक्त नहीं है, सर्वत्र बहुवचन का प्रयोग देखा जाता है, 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' हम सब प्रकार के धन-धान्य और ऐश्वर्यों के स्वामी बनें। 'योऽस्मान द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः, तं वो जम्भे दध्मः' जो हमको द्वेष करता है, अर्थात् हमारे राष्ट्र को शत्रुभाव से देखता है और जिसको हम शत्रुभाव से देखते हैं, उस द्वेषभाव को हम डाढ़ों में चबा डालें। हमारा राष्ट्र किसी के प्रति शत्रुभावना नहीं रखता, पर अपनी दुर्बलताओं के कारण अन्य किसी को हमारे राष्ट्र द्वारा संभावित शत्रुता की भ्रान्ति हो सकती है, और वह हमारे राष्ट्र के प्रति शत्रुता कर संघर्ष कर सकता है, मन्त्र में प्रार्थना की गई, हम उन शत्रुभावनाओं को कुचल डालें, और देखिये- 'वयं अनागसः स्याम' (ऋ० १/२४/१५) हम सब पापरहित हों, समस्त राष्ट्र रूप में हम अच्छे कार्यों को करने वाले रहें। 'स्याम मघवानो वयं च (ऋ० १/७३/८) हम सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं कल्याणों से युक्त हों, 'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव' (ऋ० १/९४/१३) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन। हम आपकी निर्देशों के अनुकूल आचरण करते हुए कभी कष्ट न उठायें। 'वयं स्याम वृजने सर्ववीराः' (ऋ० १/१०५/१६) हम ऐश्वर्ययुक्त श[illegible] पौत्रादि से युक्त होकर संग्राम में सदा शत्रुओं के मुकाबले वि[illegible] ,सुवीरासो वयं जयेम'। श्रेष्ठ वीर हम सदा जय-शील रहें, शत्रु[illegible] हमारा राष्ट्र पराजय का मुंह न देखे, भारतीय संस्कृति में प्र[illegible] प्राप्त पराजय भी नवीन शक्ति एवं उत्साह का संचार करने व[illegible] रहा है, ऐसी स्थिति में भी आर्य जाति ने अपने अन्दर

भी शासन तो राजतन्त्र के समान कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में ही रहता है उनमें भी राष्ट्रशासन का संचालक कोई एक ही प्रधान व्यक्ति रहता है। फलतः राष्ट्र की रक्षा का भार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर है, और प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर उन गुणों का संपादन करना है, जिनसे वह राष्ट्र रक्षा के लिये सक्षम हो।

जिस समय भारत का प्रत्येक व्यक्ति सक्षम था उस समय के भारत का शासन पूर्व में वर्तमान असमसे लेकर पश्चिम में वर्तमान ईरान के पश्चिम तक और उत्तर में हिमालय के परवर्ती भागों से दक्षिण में सागर पर्यन्त फैला हुआ था। उससे भी शतियों पूर्व महा-भारत काल में प्रायः समस्त वर्तमान एशिया का भूभाग तत्कालीन भारतीय शासन के प्रभाव में था, यह बात भारत युद्ध में उन प्रदेशों के माण्डलिक राजाओं के सम्मिलित होने से प्रमाणित है। इतने बड़े विशाल भूखण्ड का शासन एक सूत्रता से संचालित होना उसके महान राष्ट्र और वहां के निवासी समाज की राष्ट्रीय भावनाओं का द्योतक है।

भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च साहित्य वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में की गई प्रार्थना, प्रार्थना करने वालों में राष्ट्रियता की उद्दाम भावना का द्योतक है, मन्त्र है—

> "आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्; आ राष्ट्रे
> राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधि महारथो जायताम्
> दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
> जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो
> जायताम्, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु,
> फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

सर्वशक्ति भगवान से राष्ट्र का व्यक्ति प्रार्थना करता है हे महान्। सर्वान्तर्यामि परमात्मन। हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी बनें, उनमें ब्रह्म तेज सदा जागृत रहे क्षत्रिय शूर धनुर्धारी शस्त्रास्त्र के संचालन में शुरवुर सदा रोग रहित महारथ हों, ऐसे हों- जो युद्ध के अवसर पर अकेला व्यक्ति सैकड़ों शत्रुओं का मुकाबला कर सके। हमारी गायें दुधार हों, हमारे बैल भार ढोने एवं कृषि

कार्यों में समर्थ हों, हमारे घोड़े शीघ्रगामी हों, राष्ट्र की महिला घर-परिवारों को संभालने वाली, एवं शासन सूत्र में हाथ बंटाने वाली हों। प्रत्येक युवक विजय की कामना रखने वाला, सभा सोसाइटियों में श्रेष्ठ और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला उत्साही साहसी वीर हो, राष्ट्र के प्रत्येक खण्डमें ठीक समय पर उपयुक्त वर्षा हों, राष्ट्र में औषधि वनस्पति अन्न आदि खूब फूलें फलें समय पर पकें, अकाल में नष्ट न हो जायें, सब प्रकार से हमारे योगः क्षेम की सिद्धि हो।

इस मन्त्र में समस्त राष्ट्र की पुष्टि और ऐश्वर्य के लिये प्रार्थना है। मन्त्र में कोई प्रार्थना, अकेले प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के लिये नहीं की गई, समस्त राष्ट्र के लिये प्रार्थना है, 'नः राष्ट्रे' हमारे राष्ट्र में ऐसा हो, प्रायः वेदों में सर्वत्र कोई प्रार्थना एकवचन द्वारा प्रयुक्त नहीं है, सर्वत्र बहुवचन का प्रयोग देखा जाता है, 'वयं स्याम पतयो रयीणाम' हम सब प्रकार के धन-धान्य और ऐश्वर्यों के स्वामी बनें। 'योऽस्मान द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः, तं वो जम्भे दध्मः' जो हमको द्वेष करता है, अर्थात हमारे राष्ट्र को शत्रुभाव से देखता है और जिसको हम शत्रुभाव से देखते हैं, उस द्वेषभाव को हम दाढ़ों में चबा डालें। हमारा राष्ट्र किसी के प्रति शत्रुभावना नहीं रखता, पर अपनी दुर्बलताओं के कारण अन्य किसी को हमारे राष्ट्र द्वारा संभावित शत्रुता की भ्रान्ति हो सकती है, और वह हमारे राष्ट्र के प्रति शत्रुता का संघर्ष कर सकता है, मन्त्र में प्रार्थना की गई, हम उन शत्रुभावनाओं को कुचल डालें, और देखिये- 'वयं अनागस' स्याम' (ऋ० १/९४/१५) हम सब पापरहित हों, समस्त राष्ट्र रूप में हम अच्छे कार्यों को करने वाले रहें। 'स्याम मघवानो वयं च (ऋ० १/७३/८) हम सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं बलशालों से युक्त हों, 'अग्ने सख्ये मा रिषामा वय तव' (ऋ० १/९४/१२) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन। हम आपकी आज्ञाओं निर्देशों के अनुकूल आचरण करते हुए कभी कष्ट न उठायें। 'वयमिन्द्रवन्तोऽमि स्याम वृजने सर्ववीरा' (ऋ० १/१०४/१६) हम ऐश्वर्ययुक्त शक्तिशाली पुत्र-पौत्रादि से युक्त होकर संग्राम में सदा शत्रुओं के मुकाबले विजय प्राप्त करें। 'सुवीरासो वयं जयेम'। श्रेष्ठ वीर हम सदा जय-शील रहें, शत्रु के सामने कभी हमारा राष्ट्र पराजय का मुंह न देखे, भारतीय संस्कृति में प्रमाद से कभी काम पराजय की नवीन शक्ति एवं उत्साह का संचार करने वाला समझा जाता रहा है, ऐसी स्थिति में भी आर्य जाति ने अपने अन्दर कभी हीन-भावना

का उदय नहीं होने दिया। जो लोग प्राचीन भारतीय आर्यों में राष्ट्रिय-भावना का अभाव समझते व बतलाते हैं, वस्तुतः वे वर्तमान जनता में हीन भावनाओं को उभारना चाहते हैं. यह अपनी जाति अपने देश व राष्ट्र के प्रति द्रोह हैं, भारतीय आर्य का सदा इस बात में विश्वास रहा है, कि जो वीर बलवान् शक्तिशाली है, वही अपनी मातृ भूमि को स्वतन्त्र और सदा स्वाधीन रखने में समर्थ होता है। क्लीब-नपुंसक बलहीन भावना से दबे हुये जन का स्वभाव पाप होता है (यजु० ६,४॥ १६, ११), हमारा राष्ट्र सदा इस पाप से बचा रहे। राष्ट्र का 'अनागस' होना उसकी स्थायिता का मुख्य आधार होता है, यह प्रत्येक राष्ट्र प्रेमी के लिये जानना व मानना आवश्यक है।

शस्त्र से राष्ट्ररक्षा— प्राचीन काल में हमारे राष्ट्र पर एक विदेशी आक्रान्ता ने प्रबल आक्रमण किया, वह अपने आप को महान विजेता मानता था, सहस्रों मील से चल अन्तरालवर्त्ती प्रदेशों को रौंदता हुआ वह पश्चिम की ओर से पंजाब में प्रविष्ट हुआ, पर उसे जल्दी ही पता लग गया कि भारत से लोहा लेना आसान नहीं है, तत्कालीन स्थानीय गणराज्यों ने उसका प्रबल प्रतिरोध किया, पंजाब के आधे मार्ग तक आकर वह आगे न बढ़ सका, क्षत-क्षत होकर उसे वापिस होना पड़ा. उस समय वह इतना भयभीत था कि उसे उस मार्ग से भी जाने का साहस न हो सका, जिस मार्ग से उसने भारत में प्रवेश किया था, भारत के साथ संघर्ष में लगे घावों ने उसे घर तक भी नहीं आने दिया, मार्ग में ही उसने अपनी इह लीला समाप्त कर दी। परन्तु उसके चले जाने बाद शास्त्रीय चिन्तन में र[illegible] एक भारतीय आचार्य ने अपने राष्ट्र की दुर्बलता को इस आधार पर मां[illegible] कि एक विदेशी आक्रान्ता को इतना साहस भी कैसे हो सका, कि वह भार[illegible] के एक प्रदेश में इतनी दूर तक घुस आया। इन संघर्षों में देखी गई राष्[illegible] की दुर्बलताओं पर उसने गम्भीरतापूर्वक मनन किया, और समझा, कि राष्[illegible] में पारस्पर सहानुभूति का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा है, छोटे-छोटे प[illegible] स्वार्थों में संलग्न हैं आपस के सहयोग की भावना नष्टप्राय हो र[illegible] है। [illegible]

की रक्षा होने पर ही शास्त्र चिन्तन उपयोग, व सफल होता है । इसी उद्घोष को लेकर उसने एक विशाल एवं उद्दाम शक्ति संपन्न राष्ट्र उद्भावन किया । सर्वात्मना भौतिक उपासना रखने वाले जन समाज में शस्त्रक्षमता के बिना राष्ट्र की रक्षा होना संभव नहीं है ।

यह हमने एक अतीत साधारण घटना का उल्लेख किया है, पर हमारा राष्ट्र सदा से ही शस्त्र सम्पन्न और शारीरिक शक्ति में अग्रणी रहा है, बीच-बीच में अपने प्रमाद और दुर्बलताओं से आई कुरीतियों के कारण लड़खड़ाया भी है, पर फिर सजग हुआ सचेत हुआ, और अकड़ता कड़कता अति प्राचीन काल से लगाकर आज तक अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने में सक्षम हुआ है । वैदिक साहित्य में शस्त्रास्त्रों का अनेकत्र उल्लेख देखने में आता है । ऋग्वेद के छठे मन्डल के ७५ वें सूक्त में विविध प्रकार की युद्ध सामग्री का उल्लेख है, वहां ऐसी जिन वस्तुओं का स्पष्ट निर्देश हुआ है उनको इस रूप में गिना जा सकता है—वर्म धनु, ज्या, आर्त्नी, इपुधि, सारथि, रश्मि, अश्व, रथ, रथगोप, इपु, प्रतोद, हस्तघ्न आदि । इसके अतिरिक्त प्रथम मन्डल के १६२—६३ सूक्तों में अश्व का उसकी विविध गतियों व स्थितियों का बड़ा चमत्कारी वर्णन है, युद्ध साधनों में हर तरह से 'अश्व' अपना विशेष महत्त्व रखता है । यह होने पर भी भारतीय संस्कृति में इस भावना को बड़े ऊंचे स्थान पर आदर प्राप्त होता रहा है, कि जहां तक हो सके, शस्त्र-संघर्ष से बचा जाय मानव-संहार का अवसर यथाशक्ति न आने दिया जाय । उसी प्रसंग में वेदका उद्घोष है 'पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः' [ऋ० ६/७५/१४] पुरुष हर तरह से पुरुष रक्षा करे, पुरुष के द्वारा पुरुष का संहार समाज की अत्यन्त शोचनीय अवस्था है । फिर भी इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि आत्मरक्षा की उपेक्षा की जाय

अथर्व का पृथ्वीसूक्त— राष्ट्ररक्षा के वैदिक वर्णन के प्रसंग में अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त को भुला जाना युक्त न होगा । यह उक्त वेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त है इसमें सठ त्रेसठ मन्त्र हैं । जिनमें पृथ्वी मातृभूमि विषयक बड़े भावनापूर्ण एवं चमत्कारी उद्गार प्रथित हैं । कतिपय ऋचाओं का भाव प्रस्तुत किया जाता है ।

१— सत्य, बृहद्भाव, ऋत, उग्रत्व, दाक्षिण्य तप, ब्रह्म और ये गुण मातृभूमि का धारण एवं रक्षण करते हैं, जिस मातृभूमि ने हमारे भूतकाल को पालित पोषित किया है, वह हमारे वर्तमान और भविष्य को पालन व रक्षण करने के लिये हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रदान करती है।

इस मन्त्र में मातृभूमि का रक्षण करने वाले गुणों का वर्णन है। राज्य शासन व्यवहार में सत्य का पालन होना चाहिये, जब शासक अधिकारी असत्याचरण करता है, असत्य को प्रोत्साहन देता है, [illegible] भाषण व व्यवहार करता है, ऐसे शासन की नींव हिल जाती है, [illegible] व्यक्ति को शासन कार्य पर नहीं रहने देना चाहिये। इसी भाव को [illegible] कहा है—'सत्येनोत्तभिता भूमिः' सत्य के द्वारा ही भूमि टिकी हुई है, [illegible] धारण शासन को स्थायी बनाता है।

इसी प्रकार शासक गण मन में 'बृहद्भाव' को धारण करने [illegible] होने चाहियें, संकुचित भाव शासक को टिकने नहीं देता, समस्त राष्ट्रवासियों के कल्याण की भावना से प्रयत्न करना ही 'बृहद्भाव' है, धर्म जाति [illegible] प्रान्त आदि के आधार पर किसी की उपेक्षा करना किसी को प्रसन्न [illegible] शासन को शिथिल बनाता है, ऐसे संकुचित भाव के साथ शासन [illegible] सर्वथा अयोग्य है 'ऋत' का तात्पर्य है—दिव्य नियम यथार्थ सत्य, प्राकृतिक शाश्वत व्यवस्था जो राष्ट्र के कल्याण की भावना से निश्चित किया [illegible] है, उसका सर्वात्मना शासक व शासित वर्ग को पालन करना चाहिये, [illegible] व्यवस्था के पालन के लिये समस्त राष्ट्र में 'उग्रभाव' का होना आवश्यक है। इससे राष्ट्र की भयंकर शक्ति व क्षमता का बोधन होता है, निर्बलता राष्ट्र को नष्ट कर देती है। शत्रु के प्रत्येक प्रहार भी कुण्ठित हो जावें, ऐसा 'उग्रत्व' राष्ट्र में आना चाहिये, इस वीर भाव ही मातृभूमि की रक्षा करता है।

ऐसे ही राष्ट्रगत गुण 'दीक्षा' और 'तप' हैं, किसी भी कार्य को दृढ़ [illegible] पूर्वक प्रतिज्ञा के साथ करना 'दीक्षा' और उस कार्य के अनुष्ठान काल में [illegible] सुख, दुःख, शीत, उष्ण, भूख प्यास आदि को [illegible] 'तप' है। ये गुण राष्ट्र के [illegible] [illegible] आवश्यक है। [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] नहीं करती, [illegible] [illegible] है, [illegible]

संचालन कर सकते हैं, न राष्ट्र की रक्षा। प्रत्येक शासक व प्रजाजन में इन गुणों का होना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार 'ब्रह्म' और 'यज्ञ' से तात्पर्य आत्मविद्या और भूतविद्या से है। राष्ट्र में इन विद्याओं का प्रसार व उन्नति होना, राष्ट्र की शान्तिमय जीवन पद्धति और ऐहिक सुख समृद्धि का परिचायक है। जहां भौतिक विज्ञान सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुख-सुविधाओं का साधन है, वहां आत्म-विज्ञान संसार में शांति, सान्त्वना और पारस्परिक सहानुभूति की निष्कपट भावनाओं को बढ़ाते हुए परलोक की भी स्थिति को भी अनुकूल बनाता है। अध्यात्म और अधिभूत का सामञ्जस्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस उभयसिद्धि का प्रदाता है। राष्ट्र रक्षा के लिये मन्त्र में वर्णित ये गुण अपनी उपादेयता को स्वयं प्रकट कर रहे हैं॥१॥

२—जिस अन्न धनादि के उत्पन्न करने वाली जननी भूमि की, निद्रा आलस्य आदि से रहित, सदा जागृत रहने वाले सचेत सतर्क राजा एवं प्रजाजन शक्ति सम्पन्न तथा प्रमादरहित होकर प्रत्येक दशा में रक्षा करते हैं, वह मातृभूमि हमारे लिये प्रिय मधुर अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करे और हमें तेज तथा बल से पुष्ट करे।।७॥

३—हे भूमे! तेरी लता पादपों से भरी छोटी-छोटी पर्वत श्रेणियां और हिमों से ढके हुए बड़े-बड़े पर्वत तथा तेरे जंगल हमारे लिये सुखकारी हों। राष्ट्र का प्रत्येक अंग (व्यक्ति) किसी से पराजित न होकर किसी से मारा न जाकर, किसी से जख्मी न होकर स्वस्थ्य नीरोग रहता हुआ, सदा सबका भरण पोषण करने वाली, कृषकों द्वारा जोती बोई गई विविध प्रकार के अन्न वनस्पतियों से सम्पन्न, नाना प्रकार के प्राणियों से भरपूर सतर्क शासक एवं शक्तिशाली प्रजाजन से सुरक्षित, सब प्रकार के रत्नों के भण्डार भूमि पर, अधिष्ठातृभाव से स्वतन्त्र और सुखपूर्वक रहें।११॥

हमारी मातृभूमि पर विदेशी आक्रमण से वर्तमान काल में भी संकट उपस्थित हुआ है, उसके प्रतिकार के लिये धर्म प्राण भारतीय जनता का कर्तव्य है कि वह इन वैदिक मन्त्रों के उद्गारों से प्रेरणा लेकर अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये कटिबद्ध सचेष्ट और सतर्क रहें।

विद्वत् शिरोमणि श्री वृद्धि चन्द्र शास्त्री – जयपुर

क्षयमास परम्परा

विक्रम संवत् २०२० मार्गशीर्ष शाके १८८५ में क्षय मास हो रहा है। भारतीय पंचांगों में अधिक और क्षय मास की गणित द्वारा व्यवस्था की जाती है किन्तु जिस प्रकार अधिक मास हर तीसरे वर्ष आता है, उस प्रकार क्षय मास नहीं आता। ज्योतिः-सिद्धान्त निर्माता आचार्य भास्कर के मतानुसार क्षय मास प्रायः १४१ वर्ष में आता है और कभी कभी केवल १९ वर्ष पश्चात्। उन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि में लिखा है—

"गतोऽब्ध्यद्रिनन्दैर्मिते शककाले तिथीशैर्भविष्यत्यथाङ्गाक्षसूर्यैः।
गजाद्र्यग्नि भूमिस्तथा, प्रायशोऽयं कुवेदेन्दुवर्षैः क्वचिद् गोकुभिश्च॥"

अर्थात् शके ९७४ में क्षय मास हुआ था और आगे ११५५ शक में फिर होगा। इसके आगे १२५६ शक में व उसके भी आगे १३७८ में आवेगा। यों प्रायः यह १४१ वर्ष में आता है और कभी कभी १९ वर्ष पश्चात् भी।

बात ठीक है किन्तु उनके ही दिखलाये उदाहरणों में तीन बार तो क्षय मास १४१ वर्ष बाद आया है किन्तु चौथे उदाहरण में १२२ वर्ष बाद ही। अतः १४१,१२२ या १९ वर्षों में क्षयमास की सम्भावना होती है, यह मानना पड़ेगा।

संवत् २०२० के प्रकाशित कई पंचांगों में यह उल्लेख है कि इसके पहिले वि० संवत् १८७८ में क्षयमास आया था और १४१ वर्ष बाद अब २०२० में आ रहा है, किन्तु ऐसा नहीं है। १८७० वि० सं० के १९ वर्ष पश्चात् वि० सं० १८९८ में क्षय मास आ चुका है और उसके १२२ वर्ष पश्चात् २०२० में फिर आ रहा है। चिरकाल से आने से तथा भारत में वैदेशिक सम्वत्सर के चलन के कारण, जनता के लिए यह आश्चर्य का विषय बना हुआ है, किन्तु आगे यह १९ वर्ष पश्चात् ही सम्वत् २०३९ में फिर आवेगा।

यह गोरखधन्धा क्या है ? भारतीय पंचांगों में ये क्षय और अधिक मास क्यों और किस प्रकार आते हैं, इनका क्या सिद्धान्त है ? इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन यहां किया जाता है।

यह स्मरण रखने की बात है कि भारतीय पंचांगों में स्थित तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मास व वर्ष की व्यवस्था खगोल के आधार पर सूक्ष्म गणित करके निर्धारित की गई है। इनका प्रत्यक्ष-दृष्ट सूर्य और चन्द्र से सम्बन्ध है। आजकल पृथ्वी की सूर्य की परिक्रमा, सूक्ष्म गणित से ३६५ दिन ६ घंटे ९ मिनिट व ११ सैकिण्ड के करीब में होती है न कि पुरानी स्थूल गणित से ३६५ दिन ६ घंटे १२ मिनिट व ३६ सैकिण्ड में। अतः पुराने वर्ष के इष्ट काल में १।१५।३१।३० जोड़ कर वर्षारम्भ मानने वाले ९५ प्रतिशत ज्योतिषियों के वर्षेष्ट समय अशुद्ध होते हैं। इस में संशोधन अपेक्षित है। अस्तु, यह पृथ्वी की एक सूर्य परिक्रमा का काल सौर सम्वत्सर कहलाता है। ईसवीय सन् इसके अनुसार ही ३६५ दिन का होता है और प्रति चौथे वर्ष ६×४=२४ घंटों की वृद्धि से फरवरी मास को २८ के बजाय २९ दिन का मान कर हिसाब बराबर कर लिया जाता है। अपने एक वर्ष में जनवरी, फरवरी आदि १२ मास ईसवीय सन् में भी चिरकाल से माने जाते हैं किन्तु इन महिनों की दिन-व्यवस्था किसी वैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित नहीं है। यह व्यवस्था, वर्ष के कुछ न्यूनाधिक १२ हिस्से करके करली गई है।

इधर भारतीय सौर मास सौर-वर्ष की तरह, खगोलीय सूक्ष्म गणित पर आधारित है। इसके लिए आकाश मण्डल के समान १२ भाग कर लिए गये हैं, जिन्हें राशियां कहते हैं। सूर्य का एक राशि का संक्रमण काल एक सौरमास कहलाता है। सूर्य की मन्द तथा शीघ्र गति के अनुसार यह मास कभी ३१ दिन का और कभी ३० दिन का होता है और 'द्वादश मासाः सम्वत्सरः' इस वेद-वाक्य के अनुसार १२ मास का सम्वत्सर माना जाता है।

इसी प्रकार भारतीय पंचांगों का मुख्याधार मूल चान्द्र-सम्वत्सर ३५४ दिन का होता है। इसमें भी १२ मास होते हैं ये मास भी सूर्य और चन्द्रमा के संगम पर आधारित हैं, अतः वैज्ञानिक हैं। यह सूर्य चन्द्र संगम प्रायः २९॥ दिन में आता है। जो २९॥ × १२=३५४ दिन का चान्द्र सम्वत्सर व ३६५ दिन

का सौर सम्वत्सर। इन दोनों में प्रतिवर्ष ११। दिन का अन्तर मालूम है

यह अधिक मास यद्यपि स्थूल मान से ३२ मास १६ दिन ४ घ
बाद आना चाहिए। जैसा कि ज्योतिः सिद्धांत में लिखा है—

"द्वात्रिंशद्भिर्गतैर्मासैर्दिनैः षोडशभिस्तथा।
घटिकानां चतुष्केण पतति ह्यधिमासकः॥

किन्तु गणितों की वैज्ञानिकता नष्ट न हो इसके लिए सूर्येन्दु संक्र
पूर्ण साधारण मास की तरह अधिक व क्षय मास के लिए भी यथार्थ
गया है। अतः उसी व्यवस्थानुसार ये आते हैं।

अगले मास जोड़ दिया जाता है, यह सिद्धांत है। इसका पालन भारत के सभी पंचांग करते हैं। इसमें कोई मतभेद नहीं। जैसा कि महर्षि हारीत ने लिखा है—

> "षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः।
> आद्यो मलिम्लुचोज्ञेयो द्वितीयः प्राकृतः स्मृतः।
> पूर्वार्द्धं तु परित्यज्य कर्तव्या उत्तरे क्रियाः।।

अर्थात् उस ६० दिन के मास का पूर्वार्द्ध मलमास और उत्तरार्द्ध शुद्ध-मास होता है। जिसमें संक्रान्ति नहीं हुई उस मास में कोई विवाह यज्ञोपवीत आदि मांगलिक कार्य नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार पूरे एक चान्द्र मास में सूर्य संक्रान्ति न होने से अधिक मास होता है उसी प्रकार शुक्ल प्रतिपदा से अमावस्या तक के एक मास में दो सूर्य संक्रान्तियां आ जायं तो क्षयमास हो जाता है। अर्थात् पहिली संक्रान्ति से जो मास का नाम होता वह न होकर दूसरी अन्तिम संक्रान्ति से उसका नाम कहा जाता है। ऐसी स्थिति में एक मास का नामागायब हो जाता है अतः यह क्षय मास कहलाता है। जैसे जिस मास में वृश्चिक संक्रान्ति आती है वह कार्तिक कहलाता है किन्तु उसी मास में यदि धनुः संक्रान्ति भी आ गई तो उस मास का नाम कार्तिक न होकर मार्गशीर्ष न होगा और कार्तिक का क्षय मान लिया जायगा। जैसा कि संवत् २०२० में होगा। इस मार्गशीर्ष ने कार्तिक को अपने पेट में कर लिया। अतः इसे "[illegible] अंहस[illegible]" कहेंगे। इसमें भी मांगलिक कर्म करना निषिद्ध है। इस की तिथियों के पूर्वार्द्ध परार्द्ध में दोनों मासों के श्राद्ध, व्रतोत्सव (मासनिरूढ़) आदि कार्य करना चाहिए। जैसा कि स्मृतिवाक्य है—

> "तिथ्यर्द्धे प्रथमे पूर्वो द्वितीयार्द्धे तदुत्तरः।
> मासाविति बुधैश्चिन्त्यौ मलमासस्य मध्यगौ।।"

स्पष्ट है कि इस एक मास में ही दोनों महीनों के सभी कार्य होंगे।

[illegible] किसी भी प्रकार के [illegible] के [illegible] न हो इसलिए [illegible] के निर्णय [illegible] में लिखा है कि—

स जोड़ दिया जाता है, यह सिद्धांत है। इसका पालन भारत के सभी
ने है। इसमें कोई मतभेद नहीं। जैसा कि महर्षि हारीत ने लिखा

"षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः।
आद्यो मलिम्लुचोज्ञेयो द्वितीयः प्राकृत स्मृतः।
पूर्वार्द्ध तु परित्यज्य कर्तव्या उत्तरे क्रियाः॥

अर्थात् उस ६० दिन के मास का पूर्वार्द्ध मलमास और उत्तरार्द्ध शुद्ध-
ता है। जिसमें संक्रान्ति नहीं हुई उस मास में कोई विवाह यज्ञोपवीत
मांगलिक कार्य नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार पूरे एक चान्द्र मास में सूर्य संक्रान्ति न होने से अधिक
ता है उसी प्रकार शुक्ल प्रतिपदा से अमावस्या तक के एक मास में दो
क्रान्तियां आ जाय तो क्षयमास हो जाता है। अर्थात् पहिली संक्रान्ति से
स का नाम होता वह न होकर दूसरी अन्तिम संक्रान्ति से उसका नाम
ता है। ऐसी स्थिति में एक मास का नामलोप हो जाता है अतः यह
ास कहलाता है। जैसे जिस मास में वृश्चिक संक्रान्ति आती है वह
कहलाता है किन्तु उसी मास में यदि धनुः संक्रान्ति भी आ गई तो उस
का नाम कार्तिक न होकर मार्गशीर्ष न होगा और कार्तिक का क्षय मान
जायगा। जैसा कि संवत २०२० में होगा। इस मार्गशीर्ष ने कार्तिक को
पेट रख लिया। अतः इसे "एकमासमासिद्यात् अंहसः पापस्य पतिरि-

"असंक्रान्त मासेऽधिमासः स्फुटः स्याद् द्विसंक्रान्तमासः क्षयाख्यः कदाचित्।
क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यदास्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं स्यात् ॥"

अर्थात् "स्पष्ट मान से यदि पूरा मास असंक्रान्त हो तो अधिक मास और द्विसंक्रान्त होने पर क्षय मास होता है। याने सामान्य-ज्योतिषी यदि सारा पंचांग सूक्ष्म गणित करके न भी बनायें तो भी क्षय और अधिक मास के लिए सूक्ष्म गणित करें ही, ताकि किसी पंचांग में अन्तर न हो। क्षय मास कार्तिक मार्गशीर्ष व पौष ये तीन होते हैं। दूसरे मास क्षय नहीं होते। जिस वर्ष क्षय मास आता है उस वर्ष दो अधिक मास आते हैं।"

कई भिन्न भिन्न सारणियों से पंचांग बनते हैं। उनमें कुछ तो दृक्-प्रत्यक्ष के अनुसार बनते हैं शेष सब स्थूल प्रत्यक्ष से। ज्योतिषशास्त्र का सम्बंध वस्तुतः आकाशीय दृक्प्रत्यय से है। जैसा कि-प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ से स्पष्ट है। और शास्त्र चाहे शब्द प्रमाण पर अवलम्बित हों किन्तु ज्योतिष तो प्रत्यक्ष पर ही आश्रित है। सूर्य, चन्द्र इसके साक्षी हैं। अतः 'शाब्दास्त्यं प्रमाणं' मानने से इसमें काम नहीं चल सकता। आकाशीय सूर्य चन्द्र की स्थिति को सूक्ष्मेक्षिकया जांच कर तदनुसार जो पंचांग बनते हैं वे दृक्प्रत्यक्ष के कहलाते हैं और सैकड़ों वर्ष पुरानी बनी सारणियों से जो बनते है वे-अदृक्-प्रत्यय या स्थूल-दृक् हैं। निःसन्देह इन में अन्तर है। आकाश में सूर्य या चन्द्र आदि महोग्रह एक समय में दो जगह नहीं रह सकते। अतः पुराने बने कोष्टकों से जो ग्रहस्थिति निकाली जाती है, कलान्तर में अन्तर पड़ जाने के कारण अवश्य ही वह गलत है। इसीलिए समय समय पर संस्कार देकर भिन्न भिन्न करण ग्रंथों का निर्माण होता रहता है। अभी करीब ८० वर्ष पूर्व ही पूना के विद्वान् केतकर ने केतकी करण ग्रन्थ बनाया है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि क्षयाधिमास के लिए तो ज्योतिः शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि यदि तिथ्यादि की सूक्ष्म गणित संभव न हो तो भी क्षयाधिमास की संभावना पर सूक्ष्म गणित करके क्षयमास की पूर्व संक्रान्ति में चालन संस्कार दिया ही जाना चाहिए। चालन संस्कार देने पर यदि असंक्रांत मास ससंक्रांत बन जाय तो वह अधिक मास नहीं होगा और उसके आगे का द्विसंक्रान्ति मास भी मास क्षयात्मक नहीं होगा। चालन संस्कार देने पर भी पूर्वमास संक्रांति रहित ही रहे तो वह अवश्य अधिमास है और अग्रिम-द्विसंक्रांत मास भी मासक्षयात्मक हो सकेगा। इसका विचार सर्वेश्वर सिद्धांत ग्रन्थ में किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्फुट कलान्तर सार व स्फुट सूर्यराशि-सम्पातकाल निकाल कर और क्षयाधिमास का विचार करना चाहिए। सौभाग्य का विषय है कि भारत सरकार के पश्चात् विशिष्ट ज्योतिर्विदों की एक कमेटी कायम करके, विद्वान के विचार विमर्श के बाद भारत सरकार ने अपना दृक्-प्रत्यय पंचांग निकालना प्रारम्भ किया है।

सम्वत् २००० से इस ओर अधिक ध्यान से कई पंचांगों के प्रकार

"असंक्रान्त मासोऽधिमासः स्फुटः स्यात् द्विसंक्रान्तमासः क्षयाख्यः कदाचित् ।
क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतःस्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं स्यात् ॥"

अर्थात् "स्पष्ट मान से यदि पूरा मास असंक्रान्त हो तो अधिक मास और द्विसंक्रान्त होने पर क्षय मास होता है । याने सामान्य-ज्योतिषी यदि सारा पंचांग सूक्ष्म गणित करके न भी बनायें तो भी क्षय और अधिक मास के लिए सूक्ष्म गणित करें ही, ताकि किसी पंचांग में अन्तर न हो । क्षय मास कार्तिक मार्गशीर्ष व पौष ये तीन होते हैं । दूसरे मास क्षय नहीं होते । जिस वर्ष क्षय मास आता है उस वर्ष दो अधिक मास आते हैं ।"

अधिक मास प्रायः फाल्गुन, चैत्र, वैशाखादि ८ मासों में ही होता है और क्षयमास कार्तिक मार्गशीर्ष व पौष इन तीनों में ही । इसका भी कारण है । सूर्यादिग्रह अपने मार्ग से घूमते हुए जब भू-केन्द्र से दूर चले जाते हैं तब उच्च के और भू-केन्द्र के निकट आ जाते हैं तब नीचे के कहलाते हैं । चिर-काल पूर्व सूर्य मेष का उच्च का था और तुला का नीच का । इसके भी पूर्व भगवान् राम के जन्म के समय 'मीन का उच्च' का था न कि मेष का । आज मिथुन का उच्च का है । इसमें भी कालान्तर में अन्तर होना अनिवार्य है । क्योंकि सभी ग्रहों की मन्दोच्च की गति ज्योतिषशास्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है । जिसके आधार पर ही सभी पंचांगकर्ता गणित करते हैं । अतः सूर्य मेष का ही उच्च का होता है यह भ्रांत धारणा है । अस्तु, इस विषय पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा । अभी तो कहना यह है कि ग्रह जब उच्च राशि के समीप होता है तब शीघ्र । सूर्य की गति वृश्चिक, व धनुः और मकर राशि में तेज रहती है और मेषादि में मन्द । जब गति तेज रहती है, वह एक राशि २६ दिन में भी पार कर सकता है और ऐसी स्थिति में एक मास में दो बार सूर्य संक्रमण होना सम्भव है । अतः वर्तमान में क्षयमास सूर्य के वृश्चिक, धनुः व मकर राशि में रहने पर ही आता है । अन्य राशियों पर रहते नहीं । किन्तु कालान्तर में जब सूर्य का उच्च नीच मेष व तुला से अधिक दूर में चला जावेगा तब क्षय मास कार्तिकादि मासों में न आकर निःसन्देह अन्य मासों में आने लगेगा ।

आजकल भारत वर्ष में पंचांग निर्माण में भी उच्छृंखलवाद चालू है ।

कई भिन्न भिन्न सारणियों से पंचांग बनते हैं। उनमें कुछ तो दृक्-प्रत्यक्ष के अनुसार बनते हैं शेष सब स्थूल प्रत्यक्ष से। ज्योतिषशास्त्र का सम्बंध वस्तुतः आकाशीय दृक्प्रत्यय से है। जैसा कि-प्रत्यक्षं ज्योतिष शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ से स्पष्ट है। और शास्त्र चाहे शब्द प्रमाण पर अवलम्बित हों किन्तु ज्योतिष तो प्रत्यक्ष पर ही आश्रित है। सूर्य, चन्द्र इसके साक्षी हैं। अतः 'बाबावाक्यं प्रमाणं' मानने से इसमें काम नहीं चल सकता। आकाशीय सूर्य चन्द्र की स्थिति को सूक्ष्मेक्षिकया जांच कर तदनुसार जो पंचांग बनते हैं वे दृक्प्रत्यक्ष के कहलाते हैं और सैकड़ों वर्ष पुरानी बनी सारणियों से जो बनते हैं वे अदृक्-प्रत्यय या स्थूल-दृक् हैं। निःसन्देह उन में अन्तर है। आकाश में सूर्य या चन्द्र आदि ग्रहोपग्रह एक समय में दो जगह नहीं रह सकते। अतः पुराने बने कोष्टकों से जो ग्रहस्थिति निकाली जाती है, कालान्तर में अन्तर पड़ जाने के कारण अवश्य ही वह गलत है। इसीलिए समय समय पर संस्कार देकर भिन्न भिन्न करण ग्रंथों का निर्माण होता रहता है। अभी करीब ८० वर्ष पूर्व ही पूना के विद्वान् केतकर ने केतकी करण ग्रन्थ बनाया है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि क्षयाधिमास के लिए तो ज्योतिः शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि यदि तिथ्यादि की सूक्ष्म गणित संभव न हो तो भी क्षयाधिमास की संभावना पर सूक्ष्म गणित करके क्षयमास की पूर्व संक्रान्ति में चालन संस्कार दिया ही जाना चाहिए। चालन संस्कार देने पर यदि असंक्रांत मास ससंक्रांत बन जाय तो वह अधिक मास नहीं होगा और उसके आगे का द्विसंक्रांति मास भी मास द्वयात्मक नहीं होगा। चालन संस्कार देने पर भी पूर्वमास संक्रांति रहित ही रहे तो वह अवश्य अधिमास है और अग्रिम-द्विसंक्रांत मास भी मासद्वयात्मक ही होगा। इसका विचार वटेश्वर सिद्धांत ग्रन्थ में किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्फुट अमान्त काल व स्फुट सूर्यराशि-संक्रमणकाल निकाल कर और क्षयाधिमास का विचार करना चाहिए। सौभाग्य का विषय है कि भारत स्वतन्त्र के पश्चात् विशिष्ट ज्योतिषियों की एक कमेटी कायम करके, विज्ञान के विचार विमर्श के बाद भारत सरकार ने अपना दृक्-प्रत्यय पञ्चाग निकालना प्रारम्भ किया है।

सम्वत् २०२० के क्षय और अधिक मास ने कई पंचांगों में अन्तर

अन्तर है। दृक् प्रत्यय के अनुसार कार्तिक का क्षय है और मार्गशीर्ष तथा पौष अधिक है। अन्य पंचांगों में मार्गशीर्ष का क्षय और आश्विन, चैत्र अधिक हैं। इससे दशहरा, दीपावली आदि त्यौहारों में परस्पर एक मास का अन्तर होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः दृक् प्रत्यय के अनुसार कार्तिक का क्षय व मार्गशीर्ष को अधिक मान कर उसके अनुसार ही सब व्रतोत्सव मनाये जाने चाहिए। अतः दशहरा २८ सितम्बर व दीपावली १६ अक्टूबर को ही मानना चाहिए।

दृक् प्रत्ययानुसारी कई पंचांगों में कार्तिक का क्षय और कार्तिक को ही अधिक मास लिख दिया है। यह भी असमंजस एवं अशास्त्रीय है, क्योंकि जो कार्तिक मास स्वयं क्षय हो गया है मार्गशीर्ष में अन्तर भूत हो गया है। उसके नाम से ६० दिन के मास का पूर्वार्द्धभूत असंक्रांत मास कैसे हो सकता है? वह तो अग्रिम मास अंहस्पति-मार्गशीर्ष का ही पूर्वार्द्ध होगा। अतः असंक्रांत अधि-मास संसर्प मार्गशीर्ष ही कहलायेगा, कार्तिक नहीं। क्षय व अधिक मास के विषय में जो सिद्धांत सर्वत्र सर्वदा लागू होता है वही यहां भी लागू होताहै।

कुछ प्राचीन सारणियों से निर्मित पंचांगों में चन्द्र सूर्यग्रहण, चन्द्र दर्शन गुरु-शुक्र के उदयास्त, प्रत्यक्ष-दर्शन के अनुरोध से जिस प्रकार दृग् गणित से लगाये जाते हैं उसी प्रकार क्षयाधिमास आ जाते हैं। अधिमास के सम्बंध में सिद्धांतत चालन संस्कार लगाना चाहिए था वह तो नहीं लगाया गया है, सम्भवतः उसका उन्हे ज्ञान न होगा, परन्तु उनकी अपनी गणित के अनुसार जो असंक्रांत मास आता है उसे भी अधिक मास न मान कर सामान्य मास ही मान लिया है। और आगे द्विसंक्रांत मास का भी क्षय न दिखला कर सारे सम्वत्सर में सामान्य वर्ष की तरह बारह मास यथावत् दिखला दिये हैं, यह ठीक नहीं है। उन्हें ४ सितम्बर से प्रथम आश्विन लिख कर ४ अक्टूबर को द्वितीय आश्विन लिखना चाहिए जो १ नवम्बर तक चलता। २ नवम्बर से कार्तिक का आरम्भ होकर ३० नवम्बर तक वह रहता। आगे धनुः और मकर, ये दो संक्रांतियां दि० १६ दिसम्बर से प्रारम्भ होने वाले शुक्लादिमास में आ गई है। उनके, अतः यह क्षय मास है। इसमे आद्य धनुः संक्रांति वाले मार्गशीर्ष का लोप होकर अन्तिम मकर संक्रांति इस मास का नाम पौष होना और मार्गशीर्ष का सर्वथा क्षय दिखलाना उचित होता किन्तु सम्भवतः अन्य पंचांगों से दीपावली, दशहरा आदि के सामंजस्य न बैठने के भय से यह अशास्त्रीयता अपना ली गई है।

जिस वर्ष क्षयमास आता है उस वर्ष में दो अधिक मास आते हैं, 'क्षयः कार्तिकादि त्रये नान्यदा स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं स्यात्' । सम्वत २०२० में भी दूसरा अधिमास चैत्र है जो प्रायः सभी दृक् पक्षीय या अदृक पक्षीय-पंचांगों में दिखलाया गया है किंतु बहुत से पंचांगों ने इसे सम्वत् २०२० में न दिखलाकर २०२१ में दिखलाने का प्रयत्न किया है। कुछ पंचांगों ने इस अधिमास चैत्र को भी २०२० में ही दिखलाया है। २०२० में दिखलाने का का शायद यह अभिप्राय होगा कि- यदि अधिमास चैत्र को २०२१ में दिखलाया जायगा तो 'तदा वर्ष मध्येऽधिमासद्वयं स्यात्' इस सिद्धांत का पालन नहीं होगा किन्तु ऐसा समझना भ्रम है। यह सम्वत्सर मेषादि संक्रांतियों का होता है। जिसमें दो अधिमास आ जाते हैं। अधिमास चैत्र का तो २०२१ में लगाया जाना ही उचित है। क्योंकि वह उत्तरमास चैत्र का पूर्वार्द्ध है। चैत्र २०२१ का ही अंग है। अतः निर्णयसिंधु एवं जयसिंह कल्पद्रुम जैसे धर्मशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथों में स्पष्ट लिखा है कि— नहि चैत्र-शुक्लादि मलमासः पूर्व-वर्षेऽन्तर्भवतीति ब्रह्मणापि सुवचम् अर्थात्—चैत्र-शुक्लादि मलमास पूर्व वर्ष में प्रविष्ट है ऐसा ब्रह्माजी भी नहीं कह सकते। तब फिर औरों की तो कथा ही क्या? इसी लिए चैत्र अधिकमास होने पर, उसके मलमास होने पर भी सम्वत्सर का आरम्भ प्रथम चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही होता है न कि द्वितीय शुद्ध चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को, यह धर्मशास्त्र का निर्णय है।

भारतीय ज्योतिषी सूक्ष्म गणित द्वारा खगोल का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह 'काकस्य कति वा दन्ता' की तरह अनावश्यक न हो कर उसका फलित से भी कुछ सम्बन्ध होता है ऐसी उनकी मान्यता है। क्षयमास के विषय में भी 'स्मृतिरत्नावली' में यह लिखा है कि—'क्षयमासो भवेद् यस्मिन् तस्मिन वर्षेऽतिविग्रहम्। दुर्भिक्ष वाथवा पीड़ा छत्र भंगं करोति वै। अर्थात् जिस वर्ष क्षयमास आता है उस वर्ष राष्ट्रों में भयंकर युद्ध, भुखमरी प्रजा में रुग्पीडन अथवा उसी राष्ट्र का छत्र भंग होना भी सम्भव है।

भारतीय जनता का यह भी दृढ़ विश्वास है कि आधिदैविक उत्पातों का शमन न केवल आधिभौतिक उपायों से ही अपितु आधिदैविक व आध्यात्मिक उपायों से भी सम्भव है। अतः त्रिविध उपायों का आश्रय लेकर आपत्तियों के निराकरण का प्रयत्न करना चाहिए।

'विश्वानि देव, सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।' ॥ इति ॥

मान्याः श्री गिरिधर लाल व्यास शास्त्रिणः (उदयपुरम्)

एका समस्या

प्राचीना ध्वनीनां द्वैविध्यं स्वीकुर्वन्ति स्म-स्वरो व्यञ्जनं च। तत्र 'स्वतन्त्र
उच्चारितः स्वर' इति, सहायमन्तरोच्चारितो ध्वनिः स्वर इति वा भाषाविज्ञान-
विदः। स्वृ शब्दोपतापयो रित्यस्माद्धातोः घञ् प्रत्ययेन निष्पन्नस्य स्वर शब्दस्य
'स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति स्वर' इति व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थे' नान्तरेणाच
व्यञ्जनोच्चारणं सम्भवतीति महाभाष्यं सङ्गच्छते। अत एव प्रतीयते प्राचीनै
स्वराणामेवाक्षरतास्वीकृता, न तु व्यञ्जनानाम्। वि=विगतं अञ्जनं, गमनं
उच्चारणं यस्येति व्यञ्जनशब्दस्य व्युत्पत्यापि तदेव प्रतीयते। 'स्वरोऽक्षर
(१/८६) इति यजुःप्रातिशाख्येनापि तदेव सिध्यति। छन्दःशास्त्रेऽपि स्वराणामेव
मात्रागणना कृता, न तु व्यञ्जनानां, तेषामर्धमात्रात्मकत्वात्। महाभाष्येऽपि
अक्षर शब्देन केवलं स्वराणामेव संग्रहः स्वीक्रियते।

तत्र किं नाम स्वातन्त्र्यं, किं नाम वा सहायमन्तरात्वमित्यपेक्षाय
केचनाधुनिका भाषाविज्ञानविशारदाःकथयन्ति 'यस्य ध्वनेरुच्चारणे न कस्यापि
साहाय्यमपेक्ष्यते।' अत्रैव केचन हिन्दीवैयाकरणाः 'यस्य ध्वनेरुच्चारणे व्यञ्ज
नस्य साहाय्यं नापेक्ष्यते' इति वदन्तः स्वं पाण्डित्यं प्रथयन्ति। अस्मादृशां मते
तु स्वराणामुच्चारणावसरे जिह्वामन्तरा मुखाभ्यन्तरे कस्याप्यवयवस्य साहाय्य
नापेक्ष्यते' इति, एतदेव च मतं शिक्षायाम्-

> "अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाःशलःस्मृताः।
> शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः।" (३८)

इति वदता पाणिनिमहाभागेनाचामस्पृष्टत्वं हलां च स्पृष्टत्वं मञ्जूरीकृत्य
प्रख्यापितम्। अर्थात् अचां स्वराणां योच्चारणे जिह्वा मुखाभ्यन्तरे कुत्रापि न
स्पृशति; हलां व्यञ्जनानामोच्चारणे च मुखावयवं स्पृशति। तत्र 'अणः'-
... संविवृताः आकारान्तारी न स्वरी, किन्तु व्यञ्जने...

भवम् । वस्तुतस्तु अस्माक मेव न हि, किन्तु प्राचीनानामप्येतदेयमतमिति जानीमहे । तथाहि- "ऋलृवर्णौ रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेक वर्णौ" इति यजुःप्रातिशाख्यस्य चतुर्थाध्याये षट्चत्वारिंशदुत्तरैकशततमे सूत्रे ऋकार लृकारयो र्मध्ये व्यञ्जनान्तर्गतौ रकारलकारौ संश्लिष्टौ एकाकारेण मिलितौ, किन्तु अश्रुतिधरौ स्पष्टश्रुतिमलभमानौ नित्यं स्वर-भक्तिसहितौ वर्णौ' भवत इत्युवट भाष्याधरेण व्यञ्जने एव सम्मवतः । पाणिनिमहाभागेनापि स्वराणामस्पृष्टत्वं व्यञ्जनानां च सामान्यत स्पृष्टत्वमङ्गीकृत्योक्तम्-

> "ऋलोर्मध्ये भवत्यर्धमात्रा रेफलकारयोः ।
> तस्मादस्पृष्टता नैव ऋलृकारनिरूपणे ।।" इति

नैतन्मतं केवलं शिक्षायामेव प्रकटीकृतं अपितु स्वनिर्मितेऽष्टाध्यायीसूत्रपाटेऽपि 'कृपो रो लः' इति सूत्रं निर्मितवनापि ऋकारे रकार सत्ता प्रतिपादिता । सैवम् । कृपः कृपूधातो. रः रकारस्य स्थाने ल. लकारः स्यादित्येका व्याख्या । कृपः उः रः लः इति पदच्छेदं विधाय कृप' कृपूधातो. उ ऋकारस्य रः रकारस्य स्थाने लः लकारः स्यादित्यपरा व्याख्या । इत्थं व्याख्याद्वयेनापि ऋकारलकारयोः रकार लकारौ प्रसिध्यतः । अन्यथा निमाल्यनां कृपि रकारः । एवमेव 'नृपेण' इत्यस्य सिद्धावपि 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इत्यनुवर्तिपदे 'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि' इति सूत्रेण विधीयमानस्य अट्पवर्गाभ्यांव्यवहितस्य ऋकारोत्तरस्य नकारस्य स्थाने णकारस्यादेशोऽसम्भवः । यदि न मन्येत लृकारोत्तरवर्तिन ऋकारस्य मध्ये रकारः । ईदृशानि प्रमाणान्युदाहरणानि च शतशो विलोक्यन्ते महाभाष्यादिषु । धीमता भट्टोजिदीक्षितेनाप्युक्त सिद्धान्तकौमुद्याम्- "ऋति सवर्णे ऋ वा, लृति सवर्णे लृ वा' इत्यनयोर्वार्तिकयोर्वृत्तौ 'ऋ इत्यत्र द्वौ रेफौ, तयोरेका मात्रा, अभितोऽज्भक्तिमार्गेऽपरा । लृ इत्यत्र द्वौ लकारौ, तयोरेका मात्रा, अभितोऽज्भक्तिरपरा ।' इति । किन्त्व अनुभव एवापि अ. इ. उ. स्वराणामुच्चारणे काले इव ऋ लृ वर्णयोरु च्चारणकाले जिह्वा शिथिलिता सती पतिता न तिष्ठति । अपितु सा प्रतिवेष्ट्य मुखाभ्यन्तरे पूर्णस्पृष्टापि ईषत्स्पृष्टं स्पृशति । [illegible] भवत् ।

इत्थं च [illegible] भाषाविज्ञान दृष्ट्या च [illegible] ऋकार लृकारयो सत्ता स्पष्टम् सिध्यति । रकारलकारौ च [illegible] किन्तु [illegible] । [illegible] रकारलकारौ [illegible] । [illegible] मतम् । [illegible]

प्रथमतस्तु यथा संस्कृत वर्णाः संवृताः सन्तोऽपि व्याकरणे तु कादिवर्णेषु व देशित् वर्णमालायां विविच्यन्ते । तथा अप्रकटितसंवारतया प्रायेण शब्देषु गच्छेत । अत सदृच अभितः आदौ मध्येऽन्ते च स्वरस्य व्यञ्जनवदनियमेषु गच्छते । अतो व्यञ्जने सन्धिकार्येषु अभितः सरवाररप्याद्यौ मत्वा सम्भविष्यतीति न सन्देह लेशः ।

किञ्च अनयोर्भेदेऽस्मताव्वपि सन्दिहाना विद्वांसः । अत्र अकारोकारेषु कस्य मतिर्भवति । यतोऽत्र केचन अकारं मत्वा अद् इति स्त्रीकृत्य तिरिति इत्यादीनि साधयन्ति । केचन च उकारं मत्वा उद् इति स्त्रीकृत्य सि मातु इत्यादीनि साधयन्ति । इत्यस्मिन् प्रसंगे कोऽप्युदाराशयो निष्पक्षपातमतिर्मे मार्गः कंचन प्रकारं पातयिष्यति । तस्याहं शिरसा वदयामि । वदयामि जनसंसदि उदारतामित्यलमधुना ।

★ युद्धसमस्या समाधानम् ★

दुष्टाविनीतशत्रूणा भयकृत् वेधु सन्निभम्
शस्त्रधारणमोजस्यं रवो विग्रह् प्रशापदम् ॥ १ ॥
जातमात्र न यः शत्रु व्याधिं वा प्रशमं नयेत्
अति पुष्टाग युक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ २ ॥
नोपेक्षितव्यो विद्वद्भिः शत्रुरल्पोऽप्यवज्ञया
वन्हिरल्पोऽपि संवृद्धः कुरुते भस्मसाद् वनम् ॥ ३ ॥
सुवर्णैः पट्टचेलैश्च शोभास्याद् वारयोषिताम्
पराक्रमेण दानेन राजन्ते राजनंदनाः ॥ ४ ॥

"दुष्ट और धृष्ट शत्रुओं को भय भीत करने का एक मात्र साधन शस्त्र ग्रहण है। उससे अन्य ग्रहादि की शान्ति भी अपने आप हो जाती और शस्त्र सबसे बड़ा बन्धु है :

जो पैदा होते ही शत्रु और रोग को नष्ट नहीं करते वे पुष्टाङ्ग होते भी बाद में उनके द्वारा दबा लिये जाते हैं। छोटे से छोटे शत्रु की भी उपेक्षा न करो। छोटी सी चिनगारी समस्त वन को दग्ध कर देती है। सोने के गहनों वाराङ्गनाएं अपने आपको सजाती हैं वीरों की शोभा तो उनके शौर्य और उन ... से ही होती है।"

डा. श्री दशरथ शर्मा

महाराजाधिराज सावंतसिंह के उथमाण के तीन लेख

सिरोही राज्य के उथमाण ग्राम से प्राप्त संवत् १२५६ ज्येष्ठ सुदि १४, सोमवार (२६ मई, सन् १२०० ई.) के एक शिलालेख की सूचना श्री सुखटङ्कर महोदय ने वेस्टर्न सिर्कल की रिपोर्ट में सन् १९१६-१७ में दी थी। इसी के आधार पर डा. देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने सावंतसिंह के उथमाण के एक शिलालेख को अपनी लेख सूचि में दर्ज कर लिया। अन्य लेखकों के लिए यही सूचि आधारभूत रही है। भण्डारकर महोदय ने सावंतसिंह को गुहिल मानने का भी सुझाव दिया है जो प्रायः ऐतिहासिक-समाज में मान्य रहा है।

कुछ दिन पूर्व श्री नाथूराम खड्गावत (डाइरेक्टर राजस्थान आर्कोइव्ज) के सौजन्य से मुझे कुछ शिलालेखों की छापें प्राप्त हुईं। उनमें से तीन के एक बंडल पर प्राप्तिस्थान का निर्देश "पता नहीं" लिख कर दिया गया है। उन्हें देखने पर ज्ञात हुआ कि ये सावंतसिंह के तीन शिलालेख हैं। तीनों की तिथि वि. सं. १२५६ ज्येष्ठ सुदि १४ सोमवार है। किन्तु विषय भिन्न है। इस प्रकार उथमाण से एक नहीं, बल्कि तीन लेख शिलालेख मिले हैं। इनमें एक लेख बहुत खराब हो चुका है किन्तु तिथि, राजा का नाम, और उथमाण ग्राम ये तीनों आसानी से पढ़े जा सकते हैं। बाकी दो में से एक अधिक और एक कुछ कम पढ़ा जा सकता है। हम इन दोनों के पाठ यहां दे रहे हैं। उथणेश्वरदेव (महादेव) के निमित्त ये सब दान दिए गए हैं। दोनों लेखों में प्रेरयिता सम्भवतः कुंअरपाल की पुत्र पृथ्वीसिंह है।

सावंतसिंह नाम के अनेक राजा हुए हैं। इनमें से गुहिल सामंतसिंह सम्वत् १२२८ में मेवाड़ के राज्य पर शासन कर रहा था। इसके बाद इसीने डूंगरपुर राज्य की स्थापना की। उसका सं. १२५६ तक अर्बुदमंडल पर राज्य करना असम्भव

नहीं है। किन्तु सावंतसिंह ने मेवाड़ से निर्वासित होने पर डूंगरपुर की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया था न कि सिरोही की ओर।

कई विद्वान सावंतसिंह को ही चाहमान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय का सम्बन्धी समझते हैं और यह कल्पना करते हैं कि सामन्तसिंह पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी के अन्तिम युद्ध में मारा गया। यह स्थापना सत्य मानी जाए तो सावंतसिंह का जीवन काल सं. १२४८ में समाप्त होता है और संवत् १२५६ के लेख उसके नहीं हो सकते।

तीसरी एक और बात विचारणीय है। उथमाण के लेखों में सावंतसिंह के लिए 'महाराजाधिराज' पदवी प्रयुक्त हुई है। गुहिल सावंतसिंह केवल 'महाराज' था। इससे भी यही भान होता है कि उथमाण का 'महाराजाधिराज' सावंतसिंह सम्भवतः जगत के 'महाराज सामंतसिंहदेव' से भिन्न है।

सावंतसिंह की ठीक पहचान कठिन है। किन्तु वह शायद चौहान वंशी रहा हो। धीरे धीरे चौहान सिरोही के क्षेत्र में बढ़ रहे थे। आबू पर उनका अधिकार उनकी आक्रामक नीति की अन्तिम कड़ी मात्र थी। 'महाराजाधिराज' केल्हणदेव ने सिरोही का पालड़ी स्थान अधिकृत कर अपने पुत्र जयन्तसिंह को सौंप दिया था। आबू के निकट मुसल्मानों से युद्ध में जयन्तसिंह की मृत्यु होने पर शायद सावंतसिंह इसका उत्तराधिकारी हुआ। उथमाण के अतिरिक्त उसके धामनेरा और सांढेराव के संवत् १२५८ के लेख भी यही इंगित करते हैं कि सावंतसिंह चौहान था। उसे गुहिल मानने में जो आपत्तियां उठती हैं, हम उनका ऊपर निर्देश कर चुके हैं; किन्तु निश्चित रूप से प्रश्न का निर्णय किसी ऐसे शिलालेख की प्राप्ति से ही हो सकता है जिसमें उसके वंश या पिता का उल्लेख हो।

मूल लेख १

१. ॐ। संवत् १२५६ जेठ सुदि
२. १४ सोम दिने। अद्येह श्रीमहा
३. राजाधिराजे श्री सांवतसीह राजे।

मन—अन्तरिक्षलोक, यजुर्वेद, पितर, पिता, विजिज्ञास्य, द्यौ एवं आदित्य ।

प्राण—स्वर्लोक, सामवेद, प्रजाः, अविज्ञात, आप एवं चन्द्र ।

शरीर के अन्तर्गत असीम और अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के योग से क्रियान्वित और समन्वित होकर, अपने अपने कार्य में व्याप्त होने वाली, इस वाणीत्रयी के आधिभौतिक रूप का प्रतिपादन बृहदारण्यक उपनिषद् में इस रूप में किया गया है:—

"त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्ष लोकः प्राणोऽसौ लोकः ।
(बृ० आ० ब्रा० ५)

वाणी मन और प्राण तीनों लोक येही हैं । वाक् ही भूलोक है, मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण स्वर्ग लोक है । क्योंकि समस्त पदार्थों की सत्ता का बोध वाणी से ही होता है, इस लिये भौतिकतत्वावबोधक वाणी को भूलोक कहा गया है । रहस्यात्मक मन रहस्यात्मक अन्तरिक्ष लोक का प्रतीक है । अन्तरिक्ष लोक भी आकार रहित है और यह भूलोक और स्वर्गलोक के मध्य में स्थित होने से अन्तरिक्ष लोक कहलाता है । प्राण स्वर्गलोक है और स्वर्गका प्रतीक है । यदि प्राण न हो तो किसी प्रकार के आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती । प्राणजीवनसुख का असाधारण सहायक है और स्वर्गसुख की भूमिका अनुभावक है । जीवित प्राणी को प्राण द्वारा ही सुख की अनुभूति होती है ।

उपर्युक्त मन्त्र में एव शब्द के प्रयोग से यह भी सिद्ध होता है कि मन्त्रद्रष्टा इनको केवल प्रतीक मानने की अपेक्षा वाक् और भूलोकादि में किसी ऐक्य भाव का भी अनुभव अवश्य कर रहा है पर भाष्यकारने इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। स्वर्गीय श्री मोतीलाल गौड़ ने शब्द को आकाश का मानते हुए शब्द ही उसके विकास को भूलोक मानकर इस दिशा में कुछ स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु अभी इस विषय पर विशेष प्रकाश की आवश्यकता है । आगे मन्त्र में भी यह स्वरूप विद्यमान है:—

"त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनोयजुर्वेदः प्राणः साम वेद" वाणी, मन, प्राण ये तीन ही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं ।" वाणी में ही

मन्त्रोच्चारण और देवताओं का आवाहन यज्ञ में होता है। अतः यज्ञीय कार्यों के पूरक ऋग्वेद से पृथक् नहीं।

मन यजुर्वेद है यज्ञ कर्म की क्रिया का बोधक है। यजुर्वेद का काम यही है कि यह क्रियाविस्तार करता है मन का व्यापार भी यही है। मन के बिना कर्ता किसी क्रिया में प्रवृत्त ही नहीं होता और न इन्द्रियें किसी विषय को ग्रहण करती हैं। जीवन का समस्त व्यापार मन की तरंगों से ही प्रेरित होता है।

प्राण सामवेद है। इसके गायन से प्राण सानन्द होते हैं, प्राणों में उल्लास की भावना उत्पन्न होती है। प्रसन्न आत्मा ही यज्ञ आदि एवं अन्य कर्मों को सफलता से सम्पादित कर सकता है अतः प्राण सामवेद का का प्रतीक है। उसके गायन से श्रोता और गाता दोनों सानन्द होते हैं।

वाणी आदि तीन यथाक्रम देव, और मनुष्य भी हैं। सत्य ब्रह्म है देवताओं में सत्य अंश की सत्ता होने से वे देवता कहे जाते हैं। सत्य को आचरण करने वाली वाणी ही है अतः वाणी देवता है। संकल्प मन का धर्म है। सत्य संकल्प रखने वाला मनुष्य पितृतुल्य पूज्य होता है और सत्य संकल्पी को समस्त उपयुक्त कार्यों में सफलता मिलती है अतः पितृतुल्य सहायता देने वाला मन पितर है। प्राण सत्कर्म का हेतु है सत्यकर्म का ज्ञाता स्मर्ता और विधाता सब प्राणियों में मनुष्य ही होता है और सत्य-कर्म से ही मानव जीवन की की सफलता है। अतः प्राण मनुष्य का प्रतीक है। देवता पितरों मनुष्याः' बृ० आ० वा० ४ इनका तीसरा वर्गीकरण इस प्रकार हैः—'पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता, वाङ्माता प्राणः प्रजाः।'

(बृ० आ० वा० ४)

सत्यसंकल्प-सम्पन्न मन ही पिता है। मन सत्यग्रका मष्नुय का पिता के सदृशरक्षण करता है वाणी समस्त कार्यों में मन की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है। सत्यवाणी माता के समान हित करने वाली भी होती है इसलिये वाणी माता है। प्राण प्रजारूप इसलिये हैं क्योंकि प्रजा के समान अर्थात् अपनी सन्तान के समान प्राण सबको प्रिय है और प्राणी ही सबसे अधिक चाहता है।

चतुर्थ विभाजन में इनको विज्ञान, विजिज्ञास्य और अविज्ञात के रूप में विभक्त किया गया है :—

> 'विज्ञातं विजिज्ञास्यम् अविज्ञातमेत एव यत् किं च विज्ञातं ।
> वाचस्त द्रूपं वाग्हि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥
> यत् किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनोहि !
> विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥
> यत् किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो हि ।
> अविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति [बृ० अ० ५]

समस्त वस्तुओं का बोध प्रयोग और उपयोग वाणी द्वारा होता है। सब पदार्थों की बोधक वाणी ही है इसलिये जो कुछ विज्ञात है वह वाणी का ही रूप है और जो मनुष्य विज्ञाता होता है वाणी उसकी सदा रक्षा करती है। वस्तु सम्बन्धी सुख का भोग वस्तु के बोध से ही होना है।

जो वस्तु भविष्य मे ज्ञान का विषय है। अर्थात् जिज्ञास्य है वह मन का विषय है और मन का रूप है। संकल्प विकल्प तब तक ही उठते हैं जब तक उस वस्तु का पूरा ज्ञान नहीं होता। ज्ञात होने पर तो वाणी अपने आप उसके रूप को अपने शब्दों द्वारा समझा देती है और उसमें विशेष विचार के लिये किसी तरह का अवसर नहीं रहता। अतः विचार योग्य वस्तु मनका स्वरूप है।

अज्ञात वस्तु प्राणरूप है। प्राण स्वयं अविज्ञात है। उसका कोई स्वरूप नहीं है। प्राण में क्रियाशक्ति है ज्ञानशक्ति नहीं। प्राण अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा ही प्राणी की रक्षा करता है।

इस भौतिक स्वरूप के साथ इनका जो दूसरा आधिदैविक स्वरूप है वह इस प्रकार है—

> तस्यैवाचः पृथिवीशरीरं ज्योतिरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः। बृ० अा० वा० ५

वाणी का शरीर पृथिवी ज्योति स्वरूप अग्नि है। जिस रीति से पृथ्वी विस्तृत है वैसे ही वाक् भी विस्तृत है इसलिये वाणी का शरीर पृथ्वी है। विस्तार गुण से यह पृथ्वी के समान है परन्तु इसका जो दूसरा प्रका-

आधार वाक् है इस वाक् के समान यह केवल पृथ्वी ही नहीं अग्नि के प्रकाशन में साक्षात् व्याप्त है। वर्तमान वैज्ञानिक भी ध्वनितरंगों में अग्नि दर्शन करते हैं परन्तु वैदिक विज्ञान इस रहस्य का स्पष्टीकरण हजारों वर्ष पूर्व ही कर चुका था। जितनी पृथ्वी है उतनी वाक् है और उतनी ही अग्नि है। आधार और आधेय रूप वाक् और प्राण इन दोनों में कोई भी किसी से कम नहीं है। इस स्पष्टीकरण में वाक्प्राणों की अपेक्षा अर्थ स्वरूप की प्रधानता है।

मन द्युलोक के सदृश विस्तृत और प्रकाशित है। यह ज्ञान के मधुर-मधुरतर और मधुरतम तत्वों का आस्वादन कराता है अतः मन का शरीर द्युलोक है। द्युलोक पृथ्वी की अपेक्षा परम व्यापक है। यह मन इन्द्रियों का प्रकाशक है। मनोयोग के बिना इन्द्रियें अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती। अपने इस प्रकाश धर्म के कारण मन ज्योति-रूप आदित्य है। जितना विस्तृत मन है उतना ही विस्तृत देवलोक है और उतना ही विस्तृत ज्योतिरूप आदित्य है। अन्तरिक्ष के समान मन भी समग्र विषयों में व्यापक है।

द्युलोक में इस ज्योतिरूप आदित्य की उष्णता के विस्तृत हो जाने पर मातरिश्वा, अन्तरिक्ष व्यापी वायु अर्थात् प्राण की उत्पत्ति होती है। इस प्राण का नाम इन्द्र है। यह इन्द्रसदृश बल शाली और असपत्न है अर्थात शत्रुरहित है। शांकर भाष्य के अनुसार वाक् और मन दोनों ही इस प्राण के शत्रु नहीं होते। प्राणवायु सर्व प्रधान वायु है।

उपनिषद् कहते है कि जो व्यक्ति प्राण को इस रूप से समझ लेता है उसका कोई शत्रु नहीं होता और प्राण स्वयं ऐसे ज्ञाता की रक्षा करता है।

"अथैतस्य मनसोद्यौः शरीरं ज्योतिरयमसावादित्य स्तद्यावदेव मनः तावती द्यौः तावानसावादित्य स्तौ मिथुन समैताम् ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नोनास्य सपत्नो भवति य एवं वेद (५ ब्रा.)

जल के समान सर्व शरीर में व्याप्त होने से प्राण का शरीर जल है और जीवन प्रद होने से वह चन्द्रमा है। शरीर में जितना प्राण है उतना ही

जल है अर्थात् प्राण जल के समान शरीर में व्यापक है। जितना जल है उतना ही चन्द्र है अर्थात् उतनी ही शीतलता और आल्हादकता है। जलका मुख्य गुण शीतलता है लक्ष्यार्थ में यही चन्द्र है।

अथैतस्य प्राणस्यः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्र स्तद्यावानेव प्राणस्तावत्यः आपः तावानसौ चन्द्र स्त एते सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपासतेऽन्तवन्तं सलोकं जयत्यथ यो हैतानन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति। बृ० आ ब्रा. ५

बृहदारण्यक में प्रतिपादित वाक् मन एवं प्राण के इन स्वरूपों से अतिरिक्त रूपों का उल्लेख भी शतपथ-ऐतरेय, तैतरेय ब्राह्मणों एवं छान्दोग्यादि उपनिषदों में मिलता है।

वाग् वै रेतः (शत. १/५/२/७) प्राणा वै यशः (शत. १४/५/२/५) काममय एवायं मनः (जै. उ. १/३६/२) इयं वै (पृथ्वी) वाक् (शत. ४/६/६/१६) वागेवायं लोकः (शत०) वागृत्विक् (जै० उ०) प्राण उप यज्ञ (शत० १०/१/५/४) मनो वै प्रजापतिः (तै० ब्रा०)

इन तीनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। ये तीनों आत्मा के अन्नरूप हैं और तीनों प्रपञ्च में एक दूसरे के कार्य के साधक और पूरक बन जाते हैं जो इस विषय पर विशेष अध्ययन करना चाहते हैं वे वेद महर्षि श्री मधुसूदन जी ओझा एवं स्वर्गीय श्री मोतीलाल गौड़ के वेद विज्ञान सम्बन्धी उपनिषद् भाष्यों एवं शतपथ ब्राह्मण भाष्य का पारायण करें। ॐ तत्सत्।

★ चन्द्रमा में जलीय गैस ★

आजकल ज्यों ज्यों वैज्ञानिक चन्द्रमा के पास पहुँच रहे हैं वे इस प्रश्न पर भी विचार कर रहे हैं कि चन्द्रमा में गैस है या नहीं। बृहदारण्यक के आधार पर हमारा अनुमान यही है कि अवश्य चन्द्रमा में गैस अवश्य है।

"यावत्य आपः तावानसौ चन्द्र".. इससे और अन्य मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि चन्द्रमा जलमय है।

[illegible] शर्मा वेदवंशी

ले० श्री अगरचन्द नाहटा

शालिहोत्र संबंधी रचनायें

"विश्वम्भरा" के तृतीयांक में आचार्य हनुमान प्रसाद जी शास्त्री का
भारत का पशुपालन विज्ञान और पशु चिकित्सा शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है।
उसमें अश्व चिकित्सा सम्बन्धी कतिपय प्राचीन ग्रन्थों का परिचय दिया गया
है। साथ ही नवीन लेखकों के अश्वायुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों का भी नामोल्ले
किया गया है। पर मध्यकाल में जो इस विषय की बहुत सी रचनायें संस्
हिन्दी और राजस्थानी में रची गईं और उन से बहुत सी रचनाओं का विव
भी अप्रकाशित है उनका विवरण प्रकाश में आना आवश्यक है। इस लि
प्रस्तुत लेख में उनकी संक्षिप्त सूची प्रकाशित की जा रही है।

मध्यकाल में राजस्थान अपनी वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध रहा है
यहां युद्ध प्रायः होते ही रहते थे और उस समय के युद्धों में हाथियों एवं घो
का बड़ा महत्व था, इसलिये गजशास्त्र और अश्व शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों
अधिक संख्या में निर्माण होना स्वाभाविक ही था।

हाथी का मूल्य अधिक होने से उसे राजा-महाराजा ही रख स
थे। पर घोड़े तो सामान्य सेठ-साहूकार, राज्य कर्मचारी, आदि प्रायः स
लोग रखते थे। इसलिए गजशास्त्र सम्बन्धी ग्रथों* की अपेक्षा अश्वशास्त्र संबं
ग्रन्थ अधिक रचे गये हैं। एतद् विषयक संस्कृत भाषा के ग्रन्थों के ज्ञान
तो बहुत ही कम लोग होते थे इसलिए इस विषय की रचनाएं हिन्दी भ
में अधिक मिलती हैं और कुछ राजस्थानी में भी प्राप्त हैं। शालिहोत्र की
प्रतियां तो सचित्र भी मिलती हैं उन में घोड़ों की विविध जातियों की पहिच
चित्रों द्वारा कराने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है।

* एतत्सम्बन्धी रचनाओं के विवरण मैं 'सिद्धांत' पत्र के वर्ष १६ अं० ६ में प्रका

राजस्थान में रचित राजस्थानी और हिन्दी भाषा की रचनाओं में विविध प्रकार और नामों वाले अश्वों का उल्लेख प्रचुरता से पाया जाता है। मैंने ऐसे अश्व वर्णन वाले कुछ विवरण भी संग्रहीत कर रखे हैं उन्हें फिर कभी स्वतन्त्र लेख में प्रकाशित किया जायगा। राजस्थानी गद्य में भी अश्वों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है मेरे सम्पादित 'सभाशृंगार' नामक ग्रन्थ में ऐसे ८ वर्णन प्रकाशित भी हो चुके हैं।

१७वीं शताब्दी में कवीन्द्राचार्य नामक एक बड़े एवं प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं, उनके संग्रह में विविध विषयक अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे जिन में से २१९२ ग्रन्थों की एक सूची सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा से सन् १९२१ में प्रकाशित हुई थी, उसमें शालिहोत्र सम्बन्धी १२ ग्रन्थों के नाम हैं यथा—

शालिहोत्र प्रकरण

(१) नकुलकृत ग्रंथ सटीक (२) अश्व हृदय
(३) बुद्धिसेनकृत हिन्दुस्तानी भाषेचा (४) जयदत्तकृत शालिहोत्र
(५) गणकृत अश्वसार समुच्चय शालिहोत्र. (६) हयलीलावती शालिहोत्र
(७) रेवतोत्तर ग्रंथ शालिहोत्र (८) नकुलकृत ग्रंथ सटीक
(९) सहदेवकृत व भोजकृत (१०) भोजदेवकृत शालिहोत्र
(११) शालिहोत्र मुनिकृत।

कवीन्द्राचार्य का ग्रन्थ भण्डार एक ही जगह पर सुरक्षित नहीं रह सका। उसकी कुछ प्रतियां अनूपसंस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर में भी पाई जाती हैं। उक्त लायब्रेरी में अश्वशास्त्र संबंधी निम्नोक्त ग्रंथ हैं।

श्री दिवाकर शर्मा एम० ए० (रिसर्च स्कोलर)

हरिदेव कवि का विचित्र पत्रः—

हरिदेव कवि विद्वत्प्रवर श्री गंगाराम जी के तृतीय पुत्र तथा संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्री हरिद्विज के लघु भ्राता थे। इनके पुत्र शिवराम व्यास ने अपने वंश की प्रशस्ति में इनका परिचय इस रूप में दिया है।

गंगारामः सामगः सत्यभावः
स्वच्छस्वान्तः शान्त कान्त स्वभावः।
ज्योतिर्विद्वाल्लब्धलोक प्रशंसः
क्ष्मादेवोऽभूद् व्यास वंशावतंसः॥
तन्नन्दनः सज्जनरञ्जनः कृती
हरिर्बभूवाद्भुत – वाग् बृहस्पतिः।
महामतिः संसदि नन्दयन्मनः
सदा नृणां सुन्दर दुन्दुभिस्वनः॥
विलोक्ययत् काव्य कलासु कौशलं
मुदं दधे काप्रशिरा सरस्वती।
स्वयं कविः स्वीयकवित्व हानितः
(सनो) शना दीनमना मनागभूत्॥
तस्यानुजो राजति भानुधामा
महामहीयान् हरिदेव नामा।
यस्योज्ज्वलः सन पटुवाक्प्रवादः
प्रकाशते गाङ्ग इवोदवादः॥
बभूव, कौ यस्य कृपा कटाक्षतः
कृती यति विष्णुगिरिः सदुन्नतिः।
अतः कथङ्कारमकद्वदा वदेत्
गुणास्तदीयान् मम दीन भारती॥

त्या गया। राजस्थान में रचित और भी कई हिन्दी, राजस्थानी, शालिहोत्र ग्रन्थ देखने में आये पर उनके रचयिताओं के नाम और रचनाकाल अभी याद नहीं है। सचित्र शालिहोत्र की प्रतियां राजस्थान में बहुत सी तैयार करवाई गई जिन में से उदयपुर, बीकानेर ग्रन्थालय की सचित्र प्रतियों का उल्लेख ऊपर किया गया है। राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जयपुर के संग्रहालय में शालिहोत्र की तीन सचित्र प्रतियां हैं जिनमें से एक में ४८, दूसरी में ४६ और तीसरी में ११८ चित्र हैं।

अभी जयपुर का एक कबाड़ी शालिहोत्र की एक सचित्र प्रति बेचने को लाया था। खोज करने पर जागीरदारों, ठाकुरों आदि के ठिकानों में भी इस विषय से कई प्रतियां मिलेंगी। राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर के राजस्थान विभाग में शालिहोत्र की १० प्रतियां हैं और अश्व परीक्षा नामक एक ग्रन्थ भी है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि राजस्थान में इसका कितना अधिक प्रचार रहा। बहुत सी रचनाओं में ग्रंथकार के नाम का निर्देश नहीं है अतः वे एक ही ग्रंथ की कई नकलें हैं या भिन्न भिन्न स्वतंत्र ग्रंथ हैं यह प्रतियों के मिलान करने पर ही निर्णय हो सकता है।

अश्व-शास्त्र संबंधी ग्रंथ मलयालम, कंनड, मराठी, आदि सभी भाषाओं में रचे गये हैं। इन में से कुछ प्रकाशित ग्रंथों का उल्लेख श्री गोपाल गजानन्द जोशी ने शिल्प संसार वर्ष १ अंक १७ में प्रकाशित अपने लेख में दिया था। उनकी नामावली इस प्रकार है।

(१) संक्षिप्त शालिहोत्र —ले० किशोरसिंह राणावत, जयपुर
(२) शालिहोत्र संग्रह —ले० नाकुल, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, श्री गोपाल प्रेस, देहली
(३) अश्व विचार —ले० बजरंग पुस्तकालय, कानपुर।
(४) अश्व चिकित्सा —ले० पन्नालालसिंह जी. डायमंड जुबली प्रेस, कानपुर
(५) अश्व चिकित्सा —(मलयालम) मद्रास मेन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी :
(५) अश्व शास्त्रम (कानडी) " " "
(६) अश्व शास्त्र —सं० डॉ० कुलकर्णी, डेक्कन कॉलेज, पुणे।

मेरी जानकारी में निम्नोक्त ग्रंथ और प्रकाशित है- अश्व परीक्षा- राजराजेन्द्र मालव श्री राव सुमिद राज सिरोहे। शालिहोत्र-मूर्धन्य। शालिहोत्र- मधुर दव। शालिहोत्र संग्रह। अश्व शास्त्र—हेम सूरि कृत।

में एक प्रति सचित्र भी है। अश्व चिकित्सा नकुल, अश्ववैद्यक-जयदत्तसूरि, अश्वशास्त्र-शालिहोत्र, अश्वायुर्वेद-(?), के नाम से प्राप्त किए हैं। हिन्दी राजस्थानी विभाग में अश्व लक्षण-विष्णुदास, अश्व परीक्षा ?, अश्व वैद्यक भाषा—परमानन्द, और शालिहोत्र नामक ग्रन्थों की प्रतियां हैं।

बड़ौदा की ओरियन्टल लायब्रेरी में शालिहोत्र नकुल, जयदत्त की रचनाओं के अतिरिक्त सुखानन्द रचित अश्वशास्त्र और मोतीराम दीक्षित पुत्र प्रसाद रचित शालिहोत्र की प्रतियां भी हैं।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधुआश्रम के संग्रहालय में इन के अतिरिक्त अश्व शास्त्र-दयसिंह (पत्र ७२ श्लोक १३०० परिमित) और शालिहोत्र भाषा टीका की प्रतियां भी हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय में शालिहोत्र संस्कृत और हिन्दी के कई हैं। उनमें संस्कृत का गुरुदीन का और हिन्दी का करवासन (रचना काल सं० १८७४) एवं अरियल रचित उल्लेखनीय है।

हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों के खोज रिपोर्टों एवं अन्य विवरणात्मक ग्रन्थों में [1]दयानिधि, [2]चेतन चन्द, [3]उत्तमदास मिश्र, [4]वेनी कवि, [5]शिवदास, [6]पृथ्वीराज प्रधान, [7]मानसिंह अवस्थी, [8]गंजनसिंह कायस्थ, [9]इच्छाराम, [10]राजा त्रिविक्रमसेन, रचित हिन्दी शालिहोत्र नामक ग्रंथों का विवरण प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहालय में माधवराज कृत 'शालिहोत्र' की एक प्रति है और दूसरी स्वतंत्र प्रति तो काफी महत्वपूर्ण है श्री उदयशंकर शास्त्री ने लिखा है– 'अश्वशास्त्र का सचित्र ग्रन्थ इतना अद्भुत है कि बड़े बड़े मनीषियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है' प्रारम्भ में अश्वों के रोग और लक्षण, बाद में घोड़ों का चित्र बनाकर उनके गुण दोषों का, जातियों और लक्षणों का निर्देश चित्र द्वारा किया गया है।

जोधपुर में हस्तलिखित पुस्तक विक्रेताओं के पास हिन्दी पद्य बद्ध शालिहोत्र की प्रति देखी थी। यह ग्रन्थ राजस्थान में १८वीं १९वीं शताब्दी में

रचा गया। राजस्थान में रचित और भी कई हिन्दी, राजस्थानी, शालिहोत्र ग्रन्थ देखने में आये पर उनके रचयिताओं के नाम और रचनाकाल अभी याद नहीं है। सचित्र शालिहोत्र की प्रतियां राजस्थान में बहुत सी तैयार करवाई गई जिन में से उदयपुर, बीकानेर ग्रन्थालय की सचित्र प्रतियों का उल्लेख ऊपर किया गया है। राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जयपुर के संग्रहालय में शालिहोत्र की तीन सचित्र प्रतियां हैं जिनमें से एक में ४८, दूसरी में ४६ और तीसरी में ११८ चित्र हैं।

अभी जयपुर का एक बंगाली शालिहोत्र की एक सचित्र प्रति बेचने को लाया था। खोज करने पर जागीरदारों, ठाकुरों आदि के ठिकानों में भी इस विषय में कई प्रतियां मिलेंगी। राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर के राजस्थान विभाग में शालिहोत्र की १० प्रतियां हैं और अश्व परीक्षा नामक एक ग्रन्थ भी है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि राजस्थान में इसका कितना अधिक प्रचार रहा। बहुत सी रचनाओं में ग्रंथकार के नाम का निर्देश नहीं है अतः वे एक ही ग्रंथ की कई नकलें हैं या भिन्न भिन्न स्वतंत्र ग्रंथ हैं यह प्रतियों के मिलान करने पर ही निर्णय हो सकता है।

अश्व-शास्त्र संबंधी ग्रंथ मलयालम, कन्नड़, मराठी, आदि सभी भाषाओं में रचे गये हैं। इन में से कुछ प्रकाशित ग्रंथों का उल्लेख श्री गोपाल गजानन्द जोशी ने शिल्प संसार वर्ष १ अंक १७ में प्रकाशित अपने लेख में दिया था। उसकी नामावली इस प्रकार है।

(१) संक्षिप्त शालिहोत्र —ले० [illegible], जयपुर
(२) शालिहोत्र संग्रह —ले० [illegible], वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, श्री [illegible] प्रेस, देहली
(३) अश्व विचार —ले० बजरंग पुस्तकालय, कानपुर।
(४) अश्व चिकित्सा —ले० [illegible] जी, [illegible] प्रेस, [illegible]
(५) अश्व चिकित्सा —(मलयालम) मद्रास [illegible]
(५) अश्व शास्त्रम् (कानडी) " "
(६) अश्व शास्त्र —सं० डॉ० [illegible], [illegible], पूने।

ऐसी भाषाओं में निम्नोक्त ग्रंथ और प्रकाशित हैं- अश्व परीक्षा- [illegible]। [illegible]। शालिहोत्र- [illegible]। [illegible]।

श्री विद्याधर शर्मा एम० ए० (रिसर्च स्कोलर)

हरिदेव कवि का विचित्र पत्रः—

हरिदेव कवि विद्वत्प्रवर श्री गंगाराम जी के तृतीय पुत्र तथा संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्री हरिद्विज के लघु भ्राता थे। इनके पुत्र शिवराम व्यास ने अपने वंश की प्रशस्ति में इनका परिचय इस रूप में दिया है।

गंगारामः गागगः सत्यभासः
स्वच्छस्वान्तः शान्त कान्त स्वभावः।
ज्योतिर्विद्वांल्लब्धलोक प्रशंसः
हमादेवोऽभूद् व्यास वंशावतंसः॥
तन्नन्दनः सज्जनरञ्जनः कृती
हरिर्बभूवाद्भुत – वाग् बृहस्पतिः।
महामतिः संसदि नन्दयन्मनः
सदा नृणां सुन्दर दुन्दुभिस्वनः॥
विलोकयत् काव्य कलासु कौशलं
मुदं दधे कम्प्रशिरा सरस्वती।
स्वयं कविः स्वीयकवित्व हानितः
(सनो) शना दीनमना मनागभूत्॥
तस्यानुजो राजति भानुधामा
महामहीयान् हरिदेव नामा।
यस्योज्ज्वलः सन पटुवाक्प्रवादः
प्रकाशते गाङ्ग इवोदवादः॥
बभूव, को यस्य कृपा कटाक्षतः
कृती यति विष्णुगिरिः सदुन्नतिः।
अतः कथङ्कारमकद्वदा वदेत्
गुणास्तदीयान् मम दीन भारती॥

हरिदेव मूलतः मेड़ता निवासी थे परन्तु २५ या २६ वर्ष की आयु के पश्चात बीकानेर में ही स्थाई रूप से रहने लगे थे। सम्वत् १७३६ में हरिदेव जी ने कोलायत नाम से प्रसिद्ध कपिलायतन तीर्थ (जो बीकानेर से ३१ मील पश्चिम में स्थित है) से यह विचित्र पत्र अपने अग्रज हरिद्विज के पास लिखा था। इस पत्र में २१६ श्लोक हैं। यह पत्र केवल अपने ऐतिहासिक महत्व के कारण ही नहीं अपितु गृह से सुदूर स्थान पर आकर निवास करने वाले एक भावुक कवि की हार्दिक गति के चित्रण में भी अद्वितीय है। इसका प्रत्येक श्लोक साहित्यिक छटा से भरा हुआ है तथा इसके अनेक वर्णन परम मनोहर हैं।

पत्र के प्रारम्भ में कवि गणेश, कृष्ण, शंकर एवं सूर्य प्रभृति का स्मरण करता है तथा इन समस्त देवों से मंगल कामना करता है।

> स्वस्ति श्रिया सन्ततमातनोतु
> श्री चक्रधारी ब्रजभूविहारी ।
> सदा सदाचारवतां सतां यः
> चारुश्चिरं चेतसि चिन्तनीयः ॥ (इत्यादि)

मंगल के पश्चात् भवानीपुर का वर्णन किया गया है जहां यह पत्र भेजा गया था। भवानीपुर मावुण्डा ग्राम का संस्कृत नाम है। कवि भवानीपुर की प्रत्येक वस्तु पर मोहित था। भवानीपुर वासी नर नारियों के वर्णन के साथ कवि ने इस पत्र में यहां की समस्त जातियों, यहां की आबादी, यहां के वन एवं यहां के सरोवर का स्मरण कर उनका परम सुन्दर वर्णन किया है।

नारियों के वर्णन में कवि कहते हैं कि भवानीपुर की नारियां—

> स्फुट सरोज पलाश-विलोचना
> ललितमञ्जु मधुरिमलोचना ।
> मुख समीकृतचन्द्र विरोचनाः
> कनक गौर तनु कृतरोचनाः ॥

मावुण्डा के ब्राह्मणों में विद्या प्रचार तथा तथा क्षत्रियों में दानवीरता के

साथ गुरुजनों पर पूर्ण श्रद्धा है। वैश्यों के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि जिस मांति आज मारवाड़ी सेठ भारत के प्रत्येक प्रान्त में निवास करते हैं उस ही मांति रेल आदि साधनों के न होने पर भी वे १८वीं शताब्दी में भी व्यापारार्थ भारत के प्रत्येक स्थान पर जाया करते थे और एक स्थान की सस्ती वस्तु को दूसरे स्थान पर महंगी बेचकर धन कमाया करते थे।

विधाय सार्थं स्वपरे मलीमसं
देशाच्चदेशान्तर गामिनो भृशम्।
समर्घमादाय च वस्तु-संचयं
दत्वा महर्घं धनिनो-ऽ-सशयम् ॥

कवि की दृष्टि में भवानीपुर के शूद्र भी सम्मान के पात्र थे। वहां के शूद्र मन, वचन एवं कर्म इन तीनों के द्वारा किसी भांति का पाप नहीं करते थे। वे अनेक प्रकार के शिल्पों और कलाओं में निपुण थे।

अनेक शिल्पनैपुण्य कलाभिः कृत वृत्तयः
मनसा कर्मणा वाचा न कृतांहः प्रवृत्तयः ॥

जातियों के वर्णन के पश्चात् ब्रह्मचारियों, गृहस्थियों तथा वानप्रस्थियों को स्मरण किया गया है तथा विशेष कर उस समय भावुण्डा में निवास करने वाले आनन्दपुरी आदि सन्यासियों के लिए लिखा है कि वे—

"तीक्ष्ण ज्ञान कुठारेण मोहमूल विदारिणः"

वे अपने तीखे ज्ञान की कुल्हाड़ी से मोह को जड़ से उखाड़ने वाले थे। सन्यासियों के स्मरण के साथ ही सरोवर का भी स्मरण हो जाता है। सम्भव है कि इन सन्यासियों के मठ उस सरोवर पर स्थित थे। सरोवर था

विविध विहगपूर्ण [illegible]
[illegible] सर एवं यत्र [illegible] ॥

वारी भी मनोहर थी तथा वहां की रोही (वनप्रदेश) मनमोहक थी [illegible] का भी वर्णन किया गया है। इन प्राकृतिक वर्णनों तथा [illegible] के साथ विभिन्न प्रकार [illegible] को स्मरण करने के पश्चात् [illegible] करने [illegible]

पिता गंगाराम जी को तथा अपने अग्रज श्री हरिद्विज को प्रणाम कर नाना देवों से उनकी कुशल कामना करते हैं। घर की याद आते ही पुनः उससे सुदूर निवास करना उनको अखरने लगता है तथा वे इस से परम खिन्न हैं। उनकी खिन्नता का दूसरा कारण बीकानेर आने के बाद उनके विद्याभ्यास में भयंकर विघ्न का पड़ना है।

आश्चर्य यह है कि १७३६ में बीकानेर में जब सर्वाधिक विद्वान महाराजा अनूपसिंह जी का राज्य था उस समय ही हरिदेव ने लिखा है कि:-

देशाधमं प्राप्य मुमूर्खलोकं
मरुस्थलं विस्मृत सर्वं विद्यः ।
अहोभविष्यत्य चिरादवश्यं
भ्रातर्ममाभ्यास–निरास हेतोः ॥

वैसे बीकानेर तथा मेड़ते में देश के भेद से कोई विशेष अन्तर नहीं है परन्तु हरिदेव की दृष्टि में उस समय बीकानेर ही विद्वानों की दृष्टि से मरु देश था। वे यहां मेड़ता से सर्वथा नये ही नये आये थे। इसलिए संभवतः उनका यहां के राज दर्बारी विद्वानों और जैन साधुओं से किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित न हो सका था।

पत्र में आगे चलकर हेमगिरि के हाथ भेजी हुई सारस्वत पुस्तक की पहुंच स्वीकृत की गई है तथा लिखा है कि पूज्य पिता श्री गंगाराम जोधपुर में रुग्ण जगन्नाथ को देखने हेतु जोधपुर जांयगे। हरिद्विज ने हरिदेव से बीकानेरी भूमि पर उत्पन्न होने वाली सूकी साग सब्जी को मंगाया था। पत्र में उसका पूर्ण उत्तर दिया गया है कि हरिदेव उनकी सेवा में मतीरों और ककड़ी के सूखे खेलरे और सांगरी भेजेगा। इस शाक को तीन तरह से एकत्रित किया जा रहा है। (१) कुछ मोल लिया गया है (२) कुछ इधर उधर से मांगा है (३) कुछ को यह स्वयं संगृहीत कर रहा है :

कलिन्द शाकं मुनरा रमानं शाकं तथार्चिर्मिर्टिकाद्रुवं च
पुनर्मनोहारि शमीफलाना मान्द्रेवकिंचे ददाम्यदमन्दन् ॥
यदीप्ता मूलदना किंचित् यच्चमेरवा च किच्चन
विनिच्चमत्सां स्वतः—वेधा विदधे [illegible] मंदः ।

आज भी इन शाकों को बीकानेर से कलकत्ता, बम्बई और अन्य प्रान्तों में निवास करने वाले बीकानेरी जनों के पास सदा ही भेजा जाता है। पत्रों में शाक भाजी की बात भी श्लोक रूप में निबद्ध करने की हरिदेव के पिता, भाई तथा कुटुम्ब के अन्य जनों में एक प्रथा सी थी। इनके भारद्वे भेजे हुए कुछ अन्य ऐसे और पत्र हैं जिनमें बाजार से क्या क्रय करना है, घर में किस किस में लड़ाई चल रही है आदि घरेलू बातों का संग्रह के श्लोकों में पूर्ण विवरण दिया गया है।

जब यह पत्र लिखा गया था उस समय हरिदेव कोलायत में हरिवंश की कथा सुनाया करते थे। कथा श्रवण करने वाला यजमान पुत्र के पहले से कथा सुन रहा था परन्तु उसके राज्याधिकारी होने के कारण वह कथा श्रवण की अपेक्षा या तो राज कार्य देखता रहता था या नृत्यादि में रस लेता था।

अनीव रसिकश्चायं गीतनृत्यादि दर्शने
न कथा श्रवणे व्यग्रो राजकार्ये विमर्शनः ॥

सिंह भूमिपाल के अधीन था दशहरे के दिन वे बीकानेर आने वाले थे। अतः उनके साथ बालकाण्ड मंगाया गया है।

चैत्रमेनगरे प्रातः शक्तसिंहो नरेश्वरः
दशम्यां विजयाख्यायाम् आगमिष्यति निश्चितम् ॥

मालुण्डा में उस समय कुम्भकरण नाम के एक संस्कृत कवि चारण भी रहते थे। एक पत्र में ऐसा उल्लेख है कि उनके समीप ११ काव्य भेजे गये थे परन्तु वे कौन से काव्य थे इनका कोई निर्णय होना कठिन है किन्तु इस पत्र में भी उनका उल्लेख कवि के रूप में किया गया है।

कवि श्री कुम्भकर्णाय वाच्यमाशीर्वचस्तथा

गृह के पूज्य जनों तथा भवानीपुर के अन्य मान्य जनों के स्मरण के पश्चात् अन्त में हरिदेव ने अपनी पूज्य माता को प्रणाम लिखा है तथा पुनः अपनी भाबियों से निवेदन किया है कि वे आस पास के पड़ोस की स्त्रियों के चरित्र का अनुकरण न करें।

पुनः पुनर्दण्डवदङ्घ्रि पद्मे
वाच्या मदीया प्रणतिर्जनन्याः
प्रातिवेशिमक लोकाना युवतिभिरिव कर्हिचित
भवतीभिर्न भाव्यं हि चरित्रं चारु भूषणम् ॥

कुम्भकरण की प्रशंसा में उसको चारणेन्द्र लिखा गया है और पुनः कवि के पुत्रों मुकुन्ददास, इन्द्रभानु तथा दलपति को आशीर्वाद लिखने के पश्चात् कवि ने अन्तःपुर में भी आशीर्वाद कहलवाया है। इतना लिखने के पश्चात् भवानीपुर में और जो कोई सज्जन शेष रह गये थे उनको याद करते हैं तथा उन सबको राम राम लिखा है।

श्रीमद् भवानीनगरस्य मध्ये येऽन्योऽपि तिष्ठन्ति मनुष्य
श्री राम रामेति पदं मदीयं सर्वैर्भवद्भिः खलु वाचनीयम्।

यह पत्र १७२१ में लिखा गया था' यह पत्र के इस श्लोक से सिद्ध होता है।

नवाग्नि सप्तद्विजराज वर्षे
श्री कीर्तिके मासि वलक्ष-पक्षे।
तिथौ दशम्यां मरुणाह्नि पत्रम्
लिपीकृतं हन्त मया विचित्रम्॥

पत्र बहुत लम्बा है और इसके समाचारों से मालूम होता है कि यह विजयादशमी से पहले ही भवानीपुर भेज दिया गया था। इसमें विजया द को आने वाले शक्तिसिंह के हाथ बालकाण्ड भी मंगाया गया है किन्तु इस की यह प्रतिलिपि कार्तिक मास की दशमी को की गई है। पत्र की तिथि निर्णय कोई विशेष महत्व नहीं रखता। इस पत्र का महत्व इस में ही है कि से कवि हरिदेव की कवित्वशक्ति, उनके व्यापक विद्याप्रेम और उनके स विद्यमान अन्य अनेक विद्वान सन्यासियों, ठाकुरों और चारणों के ना ज्ञान होता है। और गुरुजनों के प्रति उनके आदर भाव का एक परिचय मिलता है

प्रो. श्री प्रभाकर शर्मा शास्त्री, धर्मशास्त्राचार्य, एम.ए.

"कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट"

'जयपुर' संस्थापक महाराजाधिराज सवाई जयसिंह का नाम जयपुर के कछवाहा वंशीय शासकों के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से उल्लिखित है। हमारे चरित नायक देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट इन्हीं म. जयसिंह के सभासद थे। महाराज द्वारा अनुष्ठित अपने जीवन के प्रमुख तीन कार्यों, जिनमें (१) अश्व मेध, ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का सम्पन्न करना, (२) भारत के विभिन्न पांच स्थानों पर ज्योतिष संबन्धी वेधशालाओं का निर्माण करवाना तथा, (३) 'जयपुर' जैसे सुन्दर एवं सुव्यवस्थित नगर का निर्माण करना, सुप्रसिद्ध है। अश्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान करने के लिए उन्होंने भारत के विभिन्न भागों से योग्य एवं श्रौत स्मार्त यज्ञानुष्ठान विशेषज्ञ विद्वानों को सादर बुलाकर यथोचित संमान प्रदान किया था। कविकलानिधिजी भी इसी महान् यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए बूंदी से बुलाये गये थे।

देश परिचय'- गौतम ऋषि की सन्तान वेल्लनाटीय तैलंग ब्राह्मण मद्रास प्रान्त में विद्यमान "तैलंग प्रदेश" से उत्तर भारत में आये। यह अत्यन्त ही प्राचीन समय की घटना है। "वृत्त प्रबन्ध" के लेखक श्री हरिहर भट्ट ने जो हमारे चरित नायक के सगोत्रीय भाई थे, अपने वंश परिचय में श्री बालाजी दीक्षित को मूल पुरुष माना है। सर्व प्रथम इनके वंशज दक्षिण से काशी, काशी से प्रयाग और प्रयाग से बान्धव देश में जाकर रहने लगे। इनके पुत्र श्री मण्डल दीक्षित ही बान्धव देशाधिप के गुरु थे और इन्होंने इन्हें "देवर्षि" उपाधि कई गांव जागीर (भेंट) में प्रदान किये। यहीं से इनके वंशज अनूपशहर, दिल्ली, भरतपुर, कोटा तथा बूंदी में जाकर रहे। श्री कृष्ण भट्ट अपने जीवन काल में भरतपुर, बूंदी तथा जयपुर इन तीन स्थानों पर ही अधिक रहे। "अलंकार कलानिधि" में कविकलानिधिजी भरतपुर के शासक की मूर्तिमत्ता का वर्णन प्रस्तुत करते हैं-

[illegible]

[illegible]

इसके पश्चात् ये यहां से प्रस्थान कर बून्दी नरेश श्री बुधसिंह की सभा में रहने लगे। "पद्यमुक्तावली" में इन्होंने श्री बुधसिंह का वर्णन भी प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है–

> "देव श्री बुद्धसिंह, त्वदमितजलधरोल्लासिसत्कीर्तिनीरे
> तुङ्ग प्राच्यादितीरे भवसरसि भवत्साधुवादोमितवे।
> नक्षत्राण्येव हंसाः परिलसितनभो नीलिमा शैवलौघः
> पूर्णेन्दुः पद्ममस्मिन् मधुर मधु सुधा देववृन्दामिलिन्दाः॥
>
> पद्यमुक्तावली पद्य सं. १३७ पृ. ६१)

इसके अतिरिक्त कविकलानिधिजी ने" अलंकार कलानिधि" नामक हिन्दी भाषात्मक रचना में श्री बुधसिंह नरेश का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। देवर्षि वासुदेव भट्ट ने जो कविकलानिधिजी के पौत्र थे, "राधारुप चन्द्रिका" नामक पुस्तक में अपने पूर्व वंश का परिचय देते हुए चरित नायक के लिए लिखा है–

> "बुन्दीपति बुधसिंह सों लाये मुख सों जाचि।
> रहे आइ आमेर में प्रीतिरीति बहुँभाति।:"

अर्थात् स. जयसिंह ने बून्दी नरेश से याचना की और कवि श्री कृष्ण को आमेर में लाकर आश्रय दिया। भारत प्रसिद्ध अश्वमेधयज्ञ इनकी साक्षी में हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन सुप्रसिद्ध महाकाव्य "ईश्वरविलास" में प्राप्त होता है। -

> "गव्यूत्यर्द्धोपरि जयपुरादुत्तरत्र प्रदेशे
> श्री गोविन्दालयविलसितोऽद्भ्रजच्छ्रायतुङ्गे।
> पूर्वे मानतितिपतिकृतेः सागरस्य प्रतीरे
> राज्ञा तेन व्यरचि विभवैर्मण्डितं यज्ञवाटः॥ (४/४=)

उपर्युक्त पद्य से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि महाराज स. जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। 'जयपुर' नगर का निर्माण भी ...

"नित्यत्याश्द थापा स्थिरतरघानुरक्ता साध्वजाद्या
निःसान श्री समन्तादशित जनमना व्योम्नि नानासिधारा।
मोदच्चच्छक्ति लीला मदगजति युग जैत्रयाद्यानुनादा
जामत्कामाधिराज्या क्षयति जयपुराख्या नवा राजधानी॥"

कविकलानिधि जी जयपुर की स्थापना से पूर्व तथा अश्वमेधानुष्ठान से भी पूर्व आमेर में रहते थे। इतिहास के प्रमाणों से यह निश्चित है कि संवत् १७६५ में अश्वमेध यज्ञ एवं संवत् १७८२ में जयपुर नगर की नींव डाली गई थी। अनुमानतः यदि कविकलानिधि जी की आयु ३० वर्ष भी मानें, क्योंकि आमेर आगमन से पूर्व आप बूंदी तथा भरतपुर के शासकों के आधीन भी रहे थे, तो इस दृष्टि से आपका जन्म १७३५ सं. के करीब होना चाहिए। कविशिरोमणि भट्ट मथुरानाथ जी शास्त्री ने "ईश्वरविलास नामक महाकाव्य की प्रस्तावना में भी इसी विचार का प्रतिपादन किया है। जन्म संवत् के विषय में तो अनुमान ही का आश्रय लेना पड़ता है परन्तु प्रयाण संवत् तो निश्चित है जिसका प्रमाण- 'प्राचीन रिकार्ड' है। रजिस्टर दस्तूर कौमवार- रहीफ नाम 'द' पृ. ७२१ नाम जात ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि श्री द्वारका नाथ भट्ट को जो श्री कृष्ण भट्ट का पुत्र था, महाराजा ने कवीश्वरों को दिया जाने वाला दस्तूर पिता के स्थान पर पुत्र को समर्पित किया- मिति भादवा शुदि ४ स. १८१८। 'अर्थात् इससे पूर्व यह दस्तूर भी कृष्ण भट्ट जी को प्राप्त होता था, उनकी मृत्यु होने पर यह उनके पुत्र को दिया जाने लगा। इस दृष्टि कोण को पुष्ट करने के लिए एक प्रमाण और भी प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वयं कविकलानिधि जी ने लिखा है-

"कालिन्दीतट निकट कुटी कुटज कुञ्ज निकुञ्ज [illegible]।
[illegible] [illegible] न [illegible] हरि [illegible]॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
वृन्दावन [illegible] [illegible] दिनं? किं न [illegible] [illegible]॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
हा वृन्दावन मथुरा [illegible] [illegible] [illegible]॥

कविकलानिधिजी महाराज ईश्वरीसिंह जी की मृत्यु से अत्यन्त खिन्न हो रहे थे और जयपुर छोड़कर वृन्दावन जाने की तैयारी में लग रहे थे

"श्रीकृष्ण शर्मा तनयस्तदानीं श्री लक्ष्मणादाहित लक्ष्मणोऽभत् ।
यशोकृतो येन गुणैरुदारैः बुन्दीपतिः श्री बुधसिंह भूपः ॥
"मीमांसापरिशीलने पटुमतिः सांख्याब्धिपारंगमो
न्यायानर्गलवाक् प्रपञ्चचतुरो वेदान्त सिद्धान्त धीः ॥
शाब्दव्याकृतिवृत्त कोशकुशलोऽलंकार सर्वस्ववित्
श्रीकृष्णः कवि पण्डितो विजयते वाणी विलासालयः ॥

(कुल प्रबन्ध ९९-१००/पृ. ५४६)

इस पद्य में 'विजयते,, यह वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग उनके समकालीनत्व को द्योतित करता है । इतना ही नहीं, अग्रिम पद्य में उन्होंने श्रीकृष्ण भट्ट जी के प्रति शुभ कामना भी प्रगट की है-

"हरिहर इव कविराजो घनयशसां मण्डलेश इव कोपः ।
श्रीकृष्णभट्ट एवं हि चिरमुर्वी मण्डले जीव्यात् ॥"

जितना सम्मान श्री हरिहर भट्ट ने कविकलानिधि जी के विषय में प्रगट किया उतना ही सम्मान हमारे चरित नायक ने भी हरिहर भट्ट जी के लिए प्रदर्शित किया है । वे अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य "ईश्वर-विलास" के प्रथम सर्ग में लिखते हैं-

"आज्ञातः श्रीमदीश्वरधरणिपतेः प्राप्त भूरिप्रमोदः
संप्राप्योत्साहक श्री हरिहरसुकवेः सादरं सप्रसादम् ।
काव्यं नव्यं सुभव्यं भुवि रचयति यः प्रीतये पंडितानां
सोयं श्रीकृष्ण शर्मा कृतमति नमति श्रीगुरोरङ्घ्रिपद्मम् ॥

इतना ही नहीं, "पद्यमुक्तावली" में कई स्थानों पर इन का विवेचन व सादर स्मरण प्राप्त होता है ।

इनके विषय में एक किंवदन्ती जो वास्तविक प्रतीत होती है- इस प्रकार है- एक बार जयपुर नरेश सं जयसिंह जी अपने सभासदों से सिद्ध-ष्मालाप कर रहे थे । प्रसंगानुकूल उन्होंने कविकलानिधि जी से कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण व श्री रामचन्द्र के चरित्र में यह भी एक उल्लेखनीय

अन्तर है कि श्रीकृष्ण जी के समान रामचन्द्रजी ने शृंगार पूर्ण लीलायें व रास लीलायें नहीं की।" सहसा कविकलानिधिजी ने कहा- 'राम की भी ऐसी लीलायें प्राप्त होती हैं। मुझे स्मरण है कि मैंने उस प्रकार का एक ग्रन्थ कहीं में देखा था।" महाराज ने उन्हें ६ मास की अवधि देकर उस पुस्तक को उपस्थित करने का आग्रह किया। जब कलानिधि जी घर पहुंचे तो उन्हें अपनी भूल का अनुभव हुआ। परन्तु उन्होंने उस कथन को सत्य करने का निश्चय कर लिया। बस फिर क्या था- उन्होंने उसी दिन से राम की लीलायें आलंकारिक भाषा में रचना प्रारम्भ किया। अवधि की समाप्ति पर उस पुस्तक को महाराज के सम्मुख उपस्थित करदी। उस पुस्तक का नाम "रामरासा"। महाराजा ने लिपि पहचान कर उनसे पूछा और वास्तविकता के स्पष्ट होने पर बहुत सा पारितोषिक एवं "रामरासाचार्य" की उपाधि प्रदान की। कलानिधिजी के वंशज श्री मण्डन भट्ट देवर्षि ने "रावल चरित्र" में लिखा है—

> "द्विजकुलकवि श्रीकृष्ण भये पञ्चद्रविड तैलङ्ग।
> रामायन जिनने कियौं रामरासपरसङ्ग।
> विद्वत्कुल के मुकुटमणि काव्यकलानिधि दक्ष।
> दियें खिताब जयसाह ने सब भुवि में परतक्ष॥"

हमारे चरितनायक न केवल संस्कृत साहित्य में ही प्रसिद्ध हैं, हिन्दी साहित्य में भी आपकी रचनायें असीमित हैं। आप "लाल" कवि के नाम से प्रसिद्ध थे। कविशिरोमणि भट्ट मथुरानाथजी ने लिखा है—

> "ये काव्य प्रकाशमुकुरालङ्कार कलानिधी
> श्रीमज्जयसिंह भूरमान — समुदारदे।
> रामायणं कृतवानदन् रामरासाख्यो पदे
> [illegible] [illegible] येषां कारये मायुरी पदे।
> कुन्दो नन्दन वृषसिंह मतो [illegible]
> "[illegible]" कविकन्या [illegible] समान प्रसिद्धोपदे।
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
> [illegible] [illegible] त्रिपुरा [illegible] ॥" ॥ १ ॥

इनके पिता का नाम श्री लक्ष्मण भट्ट था जैसा कि मृत्यु के पश्चात् उनका इन्होंने वर्णन किया है—

> "गच्छत्यान्वीक्षिकीयं त्रयमय विशति व्याकृतिर्वेद्भिमध्ये
> मीमांसा मूर्च्छिताभूदनिशमुपनिषत् खेदिता वेदनाभिः ।
> मग्ना सा कापिलीभि गुरु विरहगता योगगीर्भग्न योगा
> याते निर्वाणमातेजित मुकुतफले श्रीगुरौ लक्ष्मणाख्ये ।।"

इन्होंने संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता के पास ही किया था। इनके पुत्र का नाम- श्री द्वारकानाथ देवर्षि था तथा पौत्र श्री व्रजपाल भट्ट थे ।

रचनात्मक कार्य- कविकलानिधि देवर्षि श्री कृष्णभट्ट अपने जीवन काल में पांच विभिन्न राजाओं के आश्रय में रहे । आपने न केवल संस्कृत में ही, अपितु हिन्दी, प्राकृत, व्रज भाषा आदि में भी कतिपय ग्रन्थों की रचना की थी। इस समय तक प्राप्त सूचना के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आपने इनके अतिरिक्त भी कई (अनेक) ग्रन्थ लिखे होंगे । खेद है आज वे पूर्णतः उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। अभी प्राप्तरचनाओं की सूची निम्नलिखित है-

क्रम सं	नाम-रचना	भाषा	विवरण
१.	ईश्वरविलास महाकाव्यम्	संस्कृत	प्रकाशित
२.	पद्यमुक्तावली (मुक्तक)	"	"
३.	वृत्तमुक्तावली (छन्द शास्त्र)	"	प्रकाश्यमान
४.	प्रशस्ति मुक्तावलिः (पद्यात्मक-गद्य)	"	अप्रकाशित
५.	सुन्दरी स्तवराजः (तन्त्रसाहित्य)	"	"
६.	वेदान्त पञ्चविंशतिः (दर्शन शास्त्र)	"	"
७.	रामगीतम् (गीतिः)	"	"
८.	अलंकार कलानिधिः (अलंकार)	व्रज भाषा	"
९.	शृंगार रस माधुरी (रीति ग्रन्थ)	"	"
१०.	विदग्धरस माधुरी (")	"	"

क्रम सं.	नाम-रचना	भाषा	विवरण
११.	रामचन्द्रोदयः (रामायण संबन्धी)	ब्रजभाषा	अप्रकाशित
१२.	सांभर युद्ध (ऐतिहासिक घटना)	हिन्दी	"
१३.	जाजउ युद्ध (")	"	"
१४.	बहादुर विजय (")	"	"
१५.	जयसिंह गुण सरिता (प्रशंसात्मक)	"	"
१६.	वृत्त चन्द्रिका (छन्दः शास्त्र)	"	"
१७.	राम रासा (रास प्रधान)	"	"
१८.	नखशिख वर्णन (शृंगार प्रधान रीति ग्रन्थ)	"	"
१९.	तैत्तिरीयोपनिषद् का हिन्दी में पद्यानुवाद	"	"
२०.	दुर्गाभक्तितरंगिणी	हिन्दी	"

उपर्युक्त संप्राप्त ग्रन्थों का परिचय किसी अन्य लेख द्वारा पाठकों के समक्ष उपस्थित करेंगे।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर इस प्रकार के महाकवियों की बहुमूल्य रचनाओं का सम्पादन कर प्रकाशित कर रहा है। राजस्थान सरकार को चाहिए कि वह इस प्रकार के अप्रकाशित काव्यों के प्रकाश में लाने के लिए विशेषरूप से प्रयत्नशील रहे।

❀ शक्ति सन्देश ❀

गहो हाथ में खड्ग यही भीषण काली है
यह चण्डी प्रत्यक्ष शत्रु खाने वाली है।
काल जीभ यह चण्ड मुण्ड को चाट चुकी है
कई बार कितने असुरों को काट चुकी है॥
यह स्वतन्त्रता की पहली आधार शिला है
दस्युभीति थी जहाँ इसी से त्राण मिला है।
देव देश पर जब जब दावानल था छाया
इसी खड्ग से विजय सदा देवी ने पाया॥

— श्री लक्ष्मीचन्द्र मिश्र

ले०— आचार्य श्री हनुमत्प्रसाद शास्त्री पण्डित मार्तण्ड

तुलसीकृत रामायण में "क्वचिदन्यतोऽपि"

सन्त श्री तुलसीदास जी ने अपने सुप्रसिद्ध 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में ही "नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥" इस श्लोक से सूचित किया है कि उन्होंने इस भक्ति प्रधान काव्य की रचना में श्री वाल्मीकीय रामायण से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी बहुत सी सहायता ली है। इसी कारण तुलसी-रामायण के अनेक प्रसङ्ग वाल्मीकीय रामायण के साथ अक्षरशः नहीं मिलते—कुछ भिन्नताएं भी रहती हैं।

विशिष्ट कवि अपने समय के प्रतिनिधि होते हैं और समाज या राष्ट्र में कुछ कमियां देखते हैं तो उन के सुधार के लिए अपनी वाणी का सदुपयोग करते हैं। सन्त श्री तुलसीदास ने अपने समय के सम्पूर्ण मतों के कल्याणार्थ भक्तिमन्दाकिनी बहाते हुए उपलब्ध शास्त्रों में जिन जिन विषयों को उचित समझा, उन्हें-प्रसङ्गानुसार बहुत सुन्दरता से गुम्फित कर दिया। शास्त्रान्तरीय विषयों के वे प्रसङ्ग भी तुलसी की सरस कविता में मिलकर इस प्रकार एक रूप हो गये हैं, जैसे कि गंगा के प्रवाह में मिलकर छोटे छोटे नदी-नाले तद्रूप हो जाते हैं। सन्त तुलसीदास द्वारा लिए गये वे शास्त्रान्तरीय विषय कहां कहां के हैं ? यह तो वही मनुष्य खोज सकता है, जिसके मानस में मानस की स्मृति अङ्कित होने के साथ समग्र शास्त्रीय विषयों के भी संस्कार अङ्कुरित हों। परन्तु प्रसङ्गवश कुछ विषय अवश्य दर्शाये जा सकते हैं।

यहां हम श्रीमद्भागवत् के वर्णों और शब्द समूहों के [illegible] के [illegible] तुलसीकृत रामायण की [illegible] दिखाने का [illegible] है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सन्त श्री तुलसीदास ने [illegible] की [illegible] के [illegible]। [illegible]

"क्वचिदन्यतोऽपि" इन शब्दों में अन्य ग्रंथों से सहायता लेने की सूचना देती है वास्तव में किसी कवि के द्वारा वर्ण्यमान अर्थ होते ही दो प्रकार के हैं-अयोनि तथा अन्यच्छायायोनि। इनमें से अन्यच्छायायोनि अर्थ तो दूसरे कवियों की छाया के आधार से ही कल्पित किये होते हैं। ऐसा करना कवि का अधिकार होता है- 'कविरनुहरतिच्छायाम्'। यह बात दूसरी है कि कुशल कवि छाया के आधार से कल्पित अर्थ को ही इतना सुन्दर बना देता है कि, वह उसका सर्वथा अपना ही प्रतीत होता है। कहीं कहीं तो वह पूर्व कवि से भी आगे बढ़ जाता है। ऐसे ही कवियों के लिए कहा गया है कि "अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते"। इत्यादि

सन्त तुलसीदास ने श्रीमद्भागवतकार से बढ़कर सुन्दर कविता बनादी है, इस प्रकार की तुलना करने का भी हमारा अभिप्राय नहीं है। केवल यही दिखाना अभीष्ट है कि श्री तुलसीदास अनेक शास्त्रों के परिशीलनकर्ता थे और अपनी सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही उन्होंने विषयों का चयन किया था। नीचे जो श्लोक प्रदर्शित किये जा रहे हैं, वे श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के २०वें अध्याय के हैं और उनके साथ लगाई गई श्री तुलसीदास की कवितायें उनकी रामायण के किष्किन्धा काण्ड की हैं। सारे श्लोकों की छाया श्री तुलसी ने क्रमशः नहीं ली है, जो जो उन्हें सुन्दर लगा, वह वह ले लिया है--यह बात श्लोकों के आगे लगाये गये अङ्कों से भी प्रकट हो जायगी।

वर्षावर्णन--

१—(भा.) सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥४॥

(तु) फूले कमल सोह सर कैसे, निर्गुण ब्रह्म सगुण भए जैसे।

यहां भागवतकार ने मेघाच्छन्न विद्युत् से आलोकित आकाश की सगुण बने हुए ब्रह्म से उपमित किया है, तो तुलसीदास ने कमलाच्छादित सरोवर को - इतना ही दोनों में भेद है। छाया ग्रहण तो समान शब्दों में ही किया गया स्पष्ट है।

२—(भा.) निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति, न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा, न हि वेदाः कलौ युगे ॥८॥

(तु) निशि तम घन खद्योत विराजा, जनु दम्भिन कर जुरा समाजा।

इस स्थल में केवल छायाग्रहण ही नहीं है, अपितु समस्त शब्दों और अर्थों को संस्कृत से बदल कर अवधी में ला खड़ा किया गया है।

३—(भा.) श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥९॥

(तु) दादुर धुनि चहुँ दिशा सुहाई, वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।

इसे छायाग्रहण कहने में संकोच नहीं है। श्लोक में मण्डूक उपमेय के उपमान ब्राह्मण हैं तो तुलसी की चौपाई में बटुसमुदाय है— इतनो साही उल्लेख्य भेद है।

४—(भा.) आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतः।
पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥१०॥

(तु) क्षुद्र नदी भरि चली तोराई, जनु थोरेहु धन खल बौराई।

यहां कहा जा सकता है कि श्लोक में सूखती हुई नदियों के ऊपथ चलने को अस्वतन्त्र पुरुष की देहादि सम्पत्तियों के उत्पथगमन की उपमा दी गई है तो तुलसी की चौपाई में भरी हुई नदियों के सेतु तोड़कर बह चलने को थोड़े से धन से खलजन के इतरा जाने की उपमा दी गई है। परन्तु छायाग्रहण तो स्पष्ट है।

५—(भा) गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः ॥१५॥

(तु) बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।

...।के व्यथित न होने की मगवद्भक्तों के
..., किन्तु तुलसी की कविता में पर्वतों द्वारा
के ... को सहने की उपमा दी
...। ... शब्दान्तर की संख्या

६—(आ) मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥

(तु) हरित भूमि तृण संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ ।

यहां श्लोक में अनभ्यास से श्रुत्यर्थों के सन्दिग्ध होने की घटना अपने समय की परिस्थिति को सूचित करती है तो तुलसी के दोहे में पाखण्डियों के विवाद से सद्ग्रन्थों के लुप्त होने की घटना भी अपने समय की परिस्थिति को ही सूचित करती है। दोनों में तृणच्छन्न या तृणसंकुल पृथ्वी में मार्गों के सन्दिग्ध हो जाने को उपमित करना तो समान ही है। यह पूर्णतया छाया ग्रहण है।

७—(आ) लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चल सौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥१७॥

(तु) दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं ।

श्लोक में यहां चंचल बिजलियों के मेघ में स्थिर न रहने को कामिनियों के गुणी पुरुषों पर स्थिर न रहने की उपमा दी गई है, किन्तु तुलसी की चौपाई में खल की प्रीति की स्थिरता के अभाव की उपमा दी गई है-इतना सा ही अन्तर है। छायाग्रहण तो स्पष्ट है ही।

८—(आ) मेघागमोत्सवाहृष्टाः प्रत्यनन्दंशिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे ॥२०॥

(तु) लछमन देखहु मोरगन नाचत बारिद [illegible] ।
गृही बिरतिरत हरष जस बिष्णुभगत कहुँ देखि ॥

यहां के श्लोक का तुलसी के दोहे में पूर्णतया अनुवाद कहा जा सकता है।

९—(आ) [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥[illegible]॥

श्लोक में यहां वर्षा की बाढ़ से (पुंल्लिङ्ग) सेतुओं के फूट पड़ने को जैसे (पुंल्लिङ्ग) वेद मार्गों के अपवादों से फूट जाने (नष्ट-भ्रष्ट) हो जाने की उपमा फब रही है, वैसे ही तुलसी की चौपाई में (स्त्रीलिङ्ग) कियारी के फूटने को स्वतन्त्र हुई नारी के बिगड़ने की उपमा भी उतनी ही फब रही है। छायाग्राही कवि भी कल्पनाशक्ति से अपनी कविता को सुन्दरतम बना सकता है, इसका यह समुचित उदाहरण है।

— शरद्वर्णन —

१० — भा) शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।

भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योग निषेवया ॥ ३३ ॥

(तु) सरिता सर निर्मल जल सोहा, सन्त हृदय जस गत मद मोहा।

यहां के श्लोक और चौपाई में स्वच्छ जल को सन्त हृदय से दी गई उपमा में तो कोई अन्तर ही नहीं है, हां, दोनों के कवियों ने पानी की जिन स्थितियों को लक्ष्य में लिया है; वह अवश्य चमत्कार जनक है। यथा—भागवतकार देख रहे हैं कि "वर्षा में जल कलुषित हो गया था और अब शरद्-ऋतु के आगमन से वह पुनः स्वच्छ हो गया है, उसे उपमा दी गई कि जैसे कोई साधक किसी कारण योगभ्रष्ट हो गया हो और पुनः योगाभ्यास कर वह प्रकृतिस्थ हो गया हो"। श्री तुलसी शरदागम में सरिता-सरःस्थ जल की विमलता पर ही लक्ष्य दे रहे हैं और उसे मदमोहादिरहित सन्त हृदय से उपमित कर रहे हैं दोनों ही अपने अपने स्थान पर ठीक हैं।

११—(भा) गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।

यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥

(तु) जलसंकोच विकल भए मीना, अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना।

यहां श्लोक का चौपाई में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव भी नहीं है, किन्तु अनुवाद तो स्पष्ट है!

१२—(भा) शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः।

यथाऽहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३६ ॥

(तु) रस रस सूख सरिता सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।

यहां के श्लोक में वर्णित "पङ्क का स्थलों से शनैः शनैः सूखना तथा लता-वल्ली आदि वीरुधों के कच्चे अंश का पक कर सूखना एवं इनके उपमान शरीर आदि अनात्म वस्तुओं में अहन्ता-ममता का त्याग करना" आदि पूरा

भावतो चौपाई में नहीं आया है, किन्तु तात्पर्यार्थ के रूप में छाया लेना इसमें स्पष्ट है।

१३—(भा) शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ।
देहाभिमानजं बोधं मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥ ४२ ॥

(तु) शरदातप निशि शशि अपहरई, सन्त दरश जिमि पातक टरई।

यहां श्लोक में भागवतकार अपने प्रकरण से चलते हुए भगवान् मुकुन्द के द्वारा व्रजवनिताओं के देहाभिमान को दूर करने की घटना को उपस्थित कर रहे हैं और उससे शरत्कालिक सूर्यसन्ताप को चन्द्रमा के द्वारा हरण करने की घटना को उपमित कर रहे हैं तो, सन्त तुलसीदास इसी वस्तु पर सन्त के दर्शन से पातकनाश की उपमा दे रहे हैं। उनके संमुख तो व्रज-वनिताओं के देहाभिमान को श्रीमुकुन्द के द्वारा हरण करने की घटना प्रकरण प्राप्त ही नहीं है। दोनों का उचित लक्ष्य है। छाया ग्रहण तो स्पष्ट है ही।

१४—(भा) खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥

(तु) बिनु घन निर्मल सोह अकाशा, हरिजन इव परिहरि सब आशा।

यहां पर भी श्लोक का पूरा भाव तो चौपाई में नहीं आया है; परन्तु छाया-ग्रहण में कोई सन्देह नहीं है। श्लोक के "चित्त में सत्त्वभावना के उदय से शब्द ब्रह्म के अर्थ के दर्शन होने के" अर्थ का कुछ अन्य चमत्कार है और हरिभक्त के द्वारा समस्त आशाओं के परिहार द्वारा निर्मल हो जाने के" अर्थ का चमत्कार कुछ अन्य ही है। दोनों अपने अपने स्थानों पर सन्तुलित रूप में स्थित हैं।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरण शीर्षकोक्त विषय के स्पष्टीकरणार्थ पर्याप्त हैं। ऐसे ही अन्य उदाहरणों की भी गवेषणा की जा सकती है। हम चाहते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के आन्दोलन-कारी बन्धु संस्कृत सेवी विद्वानों को भी अपने साथ लें और हिन्दी को प्रधानमन्त्री की सी प्रतिष्ठा दें तो संस्कृत को राष्ट्रपति की भी प्रतिष्ठा तो अवश्य दें। कर्तृत्वशक्ति भले हिन्दी के हाथ में रहे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है, किन्तु संस्कृत को भी हिन्दी की जननी और धात्री होने के लिये श्रद्धाभाजन बनायें। इस प्रयोग से शक्ति कितनी बढ़ती है— यह परीक्षण तो करके देखें।

प्रो० मनोहर शर्मा

हम्मीरायण काव्य में जाज का चरित्र

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में रणथंभोर के अधिपति हम्मीरदेव चौहान का मंत्री एवं सेनापति जज्जल अथवा जाज एक असाधारण चारित्र्य सम्पन्न व्यक्ति है। अनेक कवियों ने उसका यशोगान करके अपनी वाणी को सफल किया है। हम्मीरायण काव्य की भूमिका में डा० दशरथशर्मा ने जाज के सम्बन्ध में बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। सार रूप में आपका वक्तव्य इस प्रकार है:—

'हम्मीर महाकाव्य में जाजा हम्मीर के वीर सेनानी के रूप में वर्तमान है। वह हम्मीर के आठ प्रधान वीरों में एक है। वह उन सेनानियों में से है, जिन्होंने अलाउद्दीन के प्रसिद्ध सेनापति उलूगखां के छक्के छुड़ा दिए थे। हम्मीर शम्भु तो जाजा उसके लिए सिर अर्पण करने के लिए समुद्यत (रावणः शम्भुमानर्च तथा त्वामर्चयाम्यहम्)। जाजा वह वीर है, जो अंतिम गढ़रोध में अभिषिक्त होकर स्वामी की मृत्यु के बाद भी ढाई दिन तक गढ़ की रक्षा करता है। वह जाति से चौहान है।

"हम्मीरायण ने भी आगे जाकर जाजा के शौर्य की पर्याप्त प्रशंसा की है।..................किन्तु उसके कुछ कथन हम्मीर महाकाव्य के विरुद्ध पड़ते हैं। वह सर्वत्र प्राहुणे के रूप में वर्णित है। वह देवड़ा भी है, जो चौहानों की शाखा विशेष है। देवड़े चौहान हैं किन्तु उन्हें देवड़ा कह कर ही प्रायः सम्बोधित और वर्णित किया जाता है। इससे अधिक खटकने वाली बात यह है कि वह विदेशी के रूप में वर्णित है।

'यही बात सामान्यतः परिवर्तित शब्दों में 'कवित्त रणथंभोर रै राणै हमीर हठाले रा' में भी वर्तमान है (पृ० ४६, दोहा १-२)। इसका कर्ता कवि मल्ल 'भाण्डउ' से एक कदम और आगे बढ़ गया है। उसने जाजा को

बड़गूजर बना दिया है (पृ० ५५, पद्य २) । इससे अधिक कथा का विकास 'भाट खेम रचित राजा हमीरदे कवित्त' में है, जिसके अनुसार 'जाजा बड़गूजर प्राहुणा (मेहमान) होकर आया था । इसे राजाहमीर ने अपनी बेटी देवलदे विवाही थी । यह युद्धभूमि में ही मरा । देवलदे रानी तालाब में डूब कर मर गई' (देखें 'वाग' पृ० ६४)

"किन्तु जाजा-विषयक प्राचीन सूचनाओं में तो उसका परदेशित्व आदि कहीं सूचित नहीं होता । प्राकृत पैङ्गलम् के अन्तर्गत जाजा-सम्बंधी पद्यों में हम्मीर उसका स्वामी है (पृ० ३६, पद्य २) और वह उसका अनुयायी मन्त्रिवर है । (पृ० ३६, पद्य ४) । वह प्राहुणा नहीं, हम्मीर का विश्वस्त योद्धा है । 'पुरुष परीक्षा' में भी हम्मीर जाजा को चला जाने के लिए कहता है किन्तु इसका कारण जाजा का विदेशित्व नहीं है (देखें परिशिष्ट ३, पृ० ५४) । हम्मीर विषयक प्राचीन प्रबंधों में विदेशित्व तो महिमासाहि आदि तक ही परिमित है ।

'माण्डउ' ने न जाने क्यों जाजा पर विदेशित्व का ही आरोपण नहीं किया, अपितु महिमासाहि के लिए प्रयुक्त युक्तियों को भी जाजा के लिए प्रयुक्त किया है । (हम्मीरायण की भूमिका पृ० ३६ से ४२)

विषय के स्पष्टीकरण के लिए यहां भूमिका में से कुछ अधिक अंश उद्धृत किया गया है । हम्मीरायण काव्य में सर्व प्रथम जाजा का प्रसंग इस प्रकार आता है :—

अलुखान चडिउ जिम्र वार, देश माहि को न लहइ सार ।
कटक तणी नहीं का वात, करमदी बीटी आवी राति ॥
देहाऊ जाजउ देवडउ, घोडा ले, आयु वीकणउ ।
सोबति तियरी उतरी जिहा, तिसइ करमदी बीटी तिहा ॥
जाजउ बाहर चडयउ जिणवार, पंच सहस लीधा तोषार ।
कटक विणास कीयउ अति घणउ, जोड प्राक्रम प्राहुँणातणउ ॥
सोबती, लेइ जाजउ गाढी गायउ, राय हम्मीर तणइ भेटियउ ।
राति तणउ कहीयउ विरतंत, जाजइ लीघउ बहु धन वित ॥
(पद्य ...

इस प्रसंग के अनुसार जाज देवड़ा 'हेड़ाऊ' है और वह अपने घोड़ों की 'सोवति' बेचने के लिए निकला हुआ है। वह सामर्थ्यशाली है और यवन सेना का विनाश करके पूरी सूचना हम्मीरदेव को देता है। फलस्वरूप उसे धन मिलता है। हम्मीरायण काव्य में आगे जाज को विदेशी कहा गया है, उसका उपक्रम इसी प्रसंग से हो जाता है। कहना न होगा कि माण्डउ एक कवि है, वह केवल इतिहास-लेखक नहीं। अतः उसने अपनी रचना में जनश्रुति का भी प्रयोग किया है।

मध्यकालीन राजस्थान में 'विणजारों' तत्व की बड़ी चर्चा रही है। यहां की लोककथाओं में अनेक विणजारों का वर्णन आता है, जो बड़े धनवान् होने के साथ ही शक्तिशाली भी थे। इनकी मित्रता और शत्रुता राजाओं के लिए भी महत्व रखती थी। उदयपुर की पीछोला झील का बनवाने वाला लखी विणजारा भी बड़ा शक्तिशाली है। इसी प्रकार हेम हेड़ाऊ की सम्पन्नता तथा उदारता की कहानी लोक प्रचलित है। 'हेड़ाऊ' और 'विणजारो' एक-ही चीज के दो नाम हैं[१]। हो सकता है कि जाज हेड़ाऊ की भी राजस्थान में कोई कहानी प्रचलित रही हो और नाम-साम्य के कारण वह हम्मीरदेव चौहान के सेनापति की कथा में जुड़ गई हो। लोक प्रचलित दन्तकथाओं में ऐसा होता ही रहता है। यहां नाम साम्य बड़ा आश्चर्यजनक काम करता है।

हम्मीरायण काव्य के दो दोहे भी विचारणीय हैं, जिनमें जाज और हम्मीर का संकट के समय का वार्तालाप है :—

जगदेव पंवार के संबंध में यही रोचक एवं सरल लोककथा प्रचलित है। इसी प्रकार निश्चय ही जाज के विषय में भी कोई लोककथा जनमुख पर प्रचलित रही है और यही कारण है कि जायसी ने उसको दो जगह जगदेव के साथ याद किया है। इस प्रसंग के अनुसार जाज बलवीर है तथा जुझार है। अवश्य ही उससे संबंधित कथानक को लोक-सम्मान मिला है। यह भी पूरी संभावना है कि जगदेव की कहानी के समान ही इसकी कथा में भी अनेक ऊपरी सूत्र जुड़ गए होंगे और इसी प्रकार के किसी लोक प्रचलित कथानक का कवि मांडउ ने अपने काव्य हम्मीरायण में प्रयोग किया है[१]।

संस्कृत और रूसी भाषा में साम्य

प्रो० (पुष्कर शर्मा एम्.ए., (संस्कृत विभाग जोधपुर विश्वविद्यालय)

भाषा की ही विशेषता है बल्कि रूसी की भी। इसके अतिरिक्त इन प्रत्यये पर्याप्त समानता पाई जाती है, जैसेः-

संस्कृत प्रत्यय	रूसी प्रत्यय
(अ) तिप् (वदति)	एत् या ईत् (चीताएत्) परन्तु (गवरीत्)
(आ) सिप् (वदसि)	एस् या ईस् (चीताएस्) तथा (गवरीस्)
(इ) थ (वदथ)	एते या इते (चीताएते) तथा (गवरीते)
(ई) मस् (वदामः)	एम् या ईम (चीताएम्) तथा (गवरीम्)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः दोनों भाषाओं की धातुओं के तीनों पुरुषों (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) में प्रायः समान ध्वनि वाले प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यह साम्य पश्चिमी यूरोप की भाषाओं में प्रायः नहीं पाया जाता। यहां पर विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दोनों भाषाओं में सामान्यतः ये ही प्रत्यय काम में आते हैं यद्यपि संस्कृत की आत्मनेपदी तथा रूसी की कुछ अनियमित धातुओं में थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है।

इस वर्तमान-कालिक "लट्" लकार के अतिरिक्त आज्ञावाचक 'लोट्' लकार के कुछ रूपों में भी प्रत्ययों की अद्भुत समानता पाई जाती है। जैसेः-

संस्कृत प्रत्यय		रूसी प्रत्यय	
(मध्यम पुरुष) एक वचन	वद्	य्	(चीताय्) तथा (स्तोय्) निष्ठ
"		(ई) या	(गवरी)
(बहुवचन)	त (वदत्)	यते या ईते	(चीताएते) (गवरीते)

एक वचन के संबंध में संस्कृत की धातुओं तथा रूसी धातुओं में थोड़ा सा अंतर दिखाई देता है। संस्कृत धातु का प्रत्यय तो लुप्त हो जाता है, किन्तु रूसी धातु के अंत में मूल प्रत्यय में से 'य्' जो अर्धस्वर ही है, तथा 'ई' बच जाते हैं। यह अवशिष्ट स्वर भी बोलचाल की भाषा में संभवतः लुप्त हो चुका है।

बहुवचन-विषयक प्रत्यय 'त्' तो दोनों में एक जैसा ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों दोनों भाषाओं के 'लट्' लकार के ही रूप थोड़े से हेर फेर के साथ 'लोट्' लकार के रूप में स्वीकार कर लिए गए हैं। संस्कृत का सघोष 'श' प्रत्यय अघोष 'त' बन गया है और रूसी में 'पते' का 'यूते' हो गया है। किन्तु मूल ध्वनि 'त' को दोनों भाषाओं में समान रूप से देखा जा सकता है। यह ध्यान रहे कि पश्चिमी यूरोप की किसी भी भाषा में नियमपूर्वक ऐसा प्रत्यय-साम्य ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा।

अब संस्कृत तथा रूसी की कुछ धातुओं में प्राप्त साम्य वर्तमान ध्वनि समानता अंग्रेजी आदि भाषाओं की तुलना में अधिक स्पष्ट हो सकेगी, इस दृष्टि से अंग्रेजी की धातुएं भी समानांतर रूप से दी जा रही हैः-

भाषा की ही विशेषता है बल्कि रूसी की भी। इसके अतिरिक्त इन प्रत्ययों में पर्याप्त समानता पाई जाती है, जैसेः-

संस्कृत प्रत्यय	रूसी प्रत्यय
(अ) तिप् (वदति)	एत् या ईत् (चीताएत्) पढ़ता (गवरीत्)
(आ) सिप् (वदसि)	एस् या ईस् (चीताएस्) तथा (गवरीस्)
(इ) थ (वदथ)	एते या ईते (चीताएते) तथा (गवरीते)
(ई) मस् (वदामः)	एम् या ईम (चीताएम्) तथा (गवरीम्)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः दोनों भाषाओं की धातुओं के तीनों पुरुषों (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) में प्रायः समान ध्वनि वाले प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यह साम्य पश्चिमी यूरोप की भाषाओं में प्रायः नहीं पाया जाता। यहां पर विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दोनों भाषाओं में सामान्यतः ये ही प्रत्यय काम में आते हैं यद्यपि संस्कृत की आत्मनेपदी तथा रूसी की कुछ अनियमित धातुओं में थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है।

इस वर्तमान-कालिक "लट्" लकार के अतिरिक्त आज्ञावाचक "लोट्" लकार के कुछ रूपों में भी प्रत्ययों की अद्भुत समानता पाई जाती है। जैसेः-

संस्कृत प्रत्यय		रूसी प्रत्यय	
(मध्यम पुरुष) एक वचन	वद्	य्	(चीताय्) तथा (स्तोय्) तिष्ठ
"		(ई) या	(गवरी)
(बहुवचन)	त (वदत)	यते या	ईते

संस्कृत के विशेषण और विशेष्य तथा सर्वनाम और संज्ञा के मध्य वचन की समानता रहती है, उसी प्रकार रूसी में भी एक जैसा वचन प्रयुक्त होता है। इसके अलावा क्रियाओं के भूतकालिक प्रयोग में भी दोनों भाषाओं के रूप कर्ता के वचन के अनुसार चलते हैं, जैसे:-

संस्कृत	रूसी	अंग्रेजी
सः अगच्छत्	ओन खोदील्	ही वेन्ट
सा अगच्छत्	ओना खोदीला	शी वेन्ट
ते अगच्छन्	ओनी खोदीली	दे वेन्ट

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत और रूसी भाषाओं का वचनगत पूर्ण साम्य है, जबकि अंग्रेजी आदि भाषाओं में यह बात नहीं देखी जाती।

शब्द-साम्यः-

यद्यपि एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में शब्दों का साम्य बहुत अधिक हुआ करता है, किन्तु फिर भी ध्वनि वैषम्य का आधिक्य सर्वत्र दिखाई दे जाता है। संस्कृत और रूसी भाषा के सभी शब्द समान हैं, यह तो कहना सर्वथा अनुपयुक्त है, किन्तु कुछ शब्दों का अद्भुत साम्य देख कर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप की भाषाओं के शब्दों की तुलना में इन दोनों भाषाओं के वे शब्द अधिक सन्निकट हैं, जैसे -

संस्कृत	रूसी	अंग्रेजी
द्वि	द्वा	टू (Two)
त्रि	त्रि	थ्री (Three)
चत्वारि	च्यतिरे	फोर (Four)
षट्	शेस्त	सिक्स
दश	देस्यात्	टेन
चतुर्थ	चेत्वेर्त	क्वार्टर (Quarter)
तृतीय	त्रेतिय	थर्ड
षष्ठ	शेस्तोय	सिक्स्थ
सप्तम	सेद्मोय	सेविन्थ

और नपुंसकलिङ्ग की दृष्टि से संस्कृत और रूसी भाषा के प्रत्ययों में कुछ अंतर है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में तो दोनों ही भाषाओं के शब्द 'आ' प्रत्यय जोड़कर बना लिए जाते हैं। यहां पर यह अवश्य स्मरणीय है कि संस्कृत के स्त्री वाचक शब्द आ (टाप्) के अतिरिक्त प्रत्ययों (ङीप् आदि) से भी बनाए जाते हैं। फिर भी रूसी भाषा का स्त्रीलिङ्ग बोधक स्थिर प्रत्यय 'आ' संस्कृत के 'आ' (टाप्) प्रत्यय से सर्वथा मिलता है, जैसेः-

संस्कृत प्रत्यय	रूसी प्रत्यय
आ (रमा)	आ (ओना)

लिङ्ग की दृष्टि से दोनों भाषाओं के मध्य एक बड़ी समानता यह भी है कि विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार विशेषण तथा (संज्ञा के स्थान पर आने वाला) सर्वनाम भी स्वकीय संज्ञा के लिङ्ग के अनुसार ही प्रयुक्त होता है, जैसेः-

संस्कृत	रूसी
सा पुस्तिका	ता क्नीगा
सा नदी	ता रेका
सः चतुरः	ओन उम्निय्
सहोदरीया पुस्तिका	क्नीगा ब्राता

यहां पर रूसी भाषा के बारे में एक अन्य बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि इसके भूतकाल की क्रियाओं में भी तीनों लिङ्गों के उपर्युक्त चिह्नों को पृथक् पृथक् दिखाया जाता है। संस्कृत भाषा में यह बात अवश्य ही नहीं है। किन्तु इससे मूल समानता में कोई अन्तर नहीं आता।

वचनः-

संस्कृत भाषा में तो तीन वचन परिलक्षित हैं, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। किन्तु रूसी में अन्य यूरोपीय भाषाओं की तरह केवल दो ही वचन होते हैं, एकवचन और बहुवचन। फिर भी संस्कृत तथा रूसी भाषा के वचनों में यह साम्य है। वह इस प्रकार से है कि जिस तरह

संस्कृत के विशेषण और विशेष्य तथा सर्वनाम और संज्ञा के मध्य वचन की समानता रहती है, उसी प्रकार रूसी में भी एक जैसा वचन प्रयुक्त होता है। इसके अलावा क्रियाओं के भूतकालिक प्रयोग में भी दोनों भाषाओं के रूप कर्ता के वचन के अनुसार चलते है, जैसेः-

संस्कृत	रूसी	अंग्रेजी
सः अगच्छत्	ओन खोदील्	ही वेन्ट
सा अगच्छत्	ओना खोदीला	शी वेन्ट
ते अगच्छन्	ओनी खोदीली	दे वेन्ट

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत और रूसी भाषाओं का वचनगत पूर्ण साम्य है, जबकि अंग्रेजी आदि भाषाओं में यह बात नहीं देखी जाती।

शब्द-साम्यः-

यद्यपि एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में शब्दों का साम्य बहुत अधिक हुआ करता है, किन्तु फिर भी ध्वनि वैषम्य का आधिक्य सर्वत्र दिखाई दे जाता है। संस्कृत और रूसी भाषा के सभी शब्द समान हैं, यह तो कह पाना सर्वथा अनुपयुक्त है, किन्तु कुछ शब्दों का अद्भुत साम्य देख कर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप की भाषाओं के शब्दों की तुलना में इन दोनों भाषाओं के ये शब्द अधिक सन्निकट हैं, जैसे -

संस्कृत	रूसी	अंग्रेजी
द्वि	द्वा	टू (Two)
त्रि	त्रि	थ्री (Three)
चत्वारि	च्यतिरे	फोर (Four)
षट्	शेस्त	सिक्स
दश	देस्यात्	टेन
चतुर्थ	चेत्वेर्त	क्वार्टर (Quarter)
तृतीय	त्रेतिय	थर्ड
षष्ठ	शेस्ताय	सिक्स्थ
सप्तम	सेद्मोय	सेविन्थ

संस्कृत	रूसी	अंग्रेजी
कीदृक्	काकोय्	ओफ व्हाट् काइन्ड (of what kind)
तादृक्	ताकोय्	ओफ दैट् काइन्ड (of that kind)
कतमः	कोतोरिय्	व्हिच् (which)
पूर्व	प्यैर्विय्	फर्स्ट
एतत् , एता	एतोत् ,एता	दिस् (this)
न	न्य	नोट् (not)
कः	क्तो	हू (who)
तत् , ता	तोत् , ता	दैट् (that)
भ्रातृ	ब्रात	ब्रदर (brother)
कदा	कोग्दा	व्हेन (when)
तदा	तोग्दा	देन् (then)
न कदापि	नी कोग्दा	नैवर (never)
न कोऽपि	नी क्तों	नो बोडी (no body)
दिन	दैन्य	डे (day)
तव, त्वीया	त्वोय् , त्वोया	दाइ, दाइन (thy, thine)
नः (नस्)	नाश्	अवर (our)
वः (वस्)	वाश्	युअर (your)
कुत्र	कूदा	व्हेयर, व्हिदर (where, wnither)
तत्र	तूदा	देयर, दियर (there, thither)
शर्करा	साखर	शुगर (sugar)
मांस	म्यासो	मीट (meat)
दर्शनीय	यास्नीय	क्लियर (clear)
वसन्त	वेस्ना	स्प्रिंग (spring)
पतत्रिन्	पतीत्सा	बर्ड (bird)

उपर्युक्त शब्दावलि से यह पूर्ण तया सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत की मूल ध्वनियों का साम्य रूसी भाषा के शब्दों से अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में इस ध्वनि के मूलभूत नियमों का पुनर्निर्माण किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्री फाल्गुन जी गोस्वामी

पातभरी सहरी

कवितावली में केवट प्रसंग में श्री तुलसीदास जी की यह प्रसिद्ध घनाक्षरी आती है :—

पातभरी सहरी सकलसुत बारे बारे
केवट की जाति कछु वेद ना पढ़ाई हैं।
सब परिवार मेरो याही लागि, राजाजू
मैं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइ हौं
गौतम की घरी ज्यों तरनी तरेगी मेरी,
प्रभुसों निषाद ह्वै के बाद बढ़ाइ हौं।
तुलसी के ईस राम रावरे सों साँची कहौं
बिना पगधोए नाथ नाव न चढ़ाइ हौं॥

यहां "पातभरी सहरी" से यह अभिप्राय लिया जाता है कि हे भगवान् मेरे पास एक पत्तामार मछली मात्र खाने को है। बालबच्चे छोटे छोटे हैं। मैं केवट हूँ, अतः वेद पढ़कर ब्राह्मणवृत्ति से निर्वाह नहीं कर सकता। मेरा सारा परिवार इसी के आश्रय पर रहता है। मैं दीन निर्धन हूं दूसरी कैसे गढ़ा सकता हूं। इत्यादि।

प्रश्न यह है कि आठ पंक्ति के इस छन्द में चार पंक्ति तक नाव का नाम तक नहीं आया, परन्तु प्रस्तुत विषय का सारा आधार नाव पर ही है। तीसरी पंक्ति में केवट ने जो यह कहा कि :—

"सब परिवार मेरो याही लागि, राजजू"

इसमें 'याही लागि" का याही शब्द पत्तमार सहरी को संकेति

कर रहा है अथवा किसी और वस्तु को घोषित कर रहा है यह सन्देह ही रह जाता है। चौथी पंक्ति तो सर्वथा यह अपेक्षा रखती है कि "पहली या वर्तमान कौनसी वस्तु हैं जिसके स्थान में केवट को दूसरी गढ़ानी पड़ेगी। जब तक पांचवीं पंक्ति न पढ़ी जाय तब तक नाव का नाम नहीं आता जो ऊपर की सारी बातों का आधार है।

'सहरी' का अर्थ मछली, संस्कृत के शब्द 'शफरी' के आधार से किया जाता हैं। परन्तु इसमें ऊपर बतलाई कठिनाइयां आ पड़ती हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में भी सहरी का अर्थ शफरी को अपभ्रंश मान कर ही लगाया गया हैं, तथा उक्त घनाक्षरी की प्रथम पंक्ति उदाहरण के रूप में दी गई हैं।

हमारी तुच्छ बुद्धि में सहरी का अर्थ केवल मछली ही न मानकर उसका अभिप्राय यदि मछली पकड़ने वाली नौका भी मान लिया जाय तो सब कठिनाइयां दूर हो जाती हैं। ऐसी नावें छोटी २ होती हैं, जिसके लिए पातभरी विशेषण उपयुक्त है बोलचाल की भाषा में "आंख भरी कटोरी" कटोरी के छोटेपन का बोध कराने को कहा जाता है। इस प्रकार केवट ने अपने जीवन निर्वाह का साधन उस छोटी सी नौका को बतलाया। अपने ऊपर अपने छोटे २ बच्चों के पालन पोषण का भार प्रकट किया जिसका एक मात्र साधन वही सहरी है। वह केवट होकर दूसरा कोई व्यवसाय नहीं कर सकता न उसकी यह सामर्थ्य हैं कि इसके नाश हो जाने पर वह दूसरी गढ़ा सके। आगे भगवान् को उस पर (बिना पग धोए) चढ़ाने से क्या परिणाम होगा यह सब स्पष्ट कर देता है। और नाव पर चढ़ाने की अपनी शर्तें उनके सामने रख देता हैं।

कवितावली में केवट प्रसंग पर ६ पद्य हैं। ३ सवैया तथा ३ घनाक्षरी। पहला सवैया कवि ने भगवान् के गंगातट पर पहुंच कर नाव मांगने की कथा रूप में वर्णन किया। दूसरी दो सवैया केवट द्वारा नदी का 'थाह गहराई, भगवान के चरणों की रज से नाव के लुप्त हो जाने की आशंका, की हानि का परिणाम, तथा नाव पर चढ़ाने की अपनी शर्तें की अभि में है। इसी भाव की पुनरावृत्ति इस घनाक्षरी में की गई हैं। दूसरा

छन्द भगवान् गंगा, तथा भगवान् की चरण-रज का माहात्म्य बखान कर नाव के उड़ जाने की आशंका प्रकट करता है । तथा अन्तिम पद भगवान् की स्वीकृति तथा केवट की अभिलषित इच्छापूर्ति की कथा कहता है । इन छः में से आदि अन्त के दो को छोड़ कर शेष चार पद भी ऐसे हैं जो स्फुट होकर केवट के पूरे अभिप्राय को व्यक्त करते हैं । अतः यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि इस घनाक्षरी में ऊपर से अध्याहार करने की अपेक्षा हो । यद्यपि कवितावली के पद काण्डों के क्रम से विभक्त किये हुए हैं, ऐसा विद्वानों द्वारा माना जाता है कि ये पद क्रमबद्ध रचित न होकर भिन्न २ समय पर बनाये गये । पश्चात् पूर्वापर संदर्भ से काण्डवार ग्रथित कर दिये गये । अतः ये एक दूसरे पर उक्त प्रकार से अवलम्बित नहीं हैं ।

पारसी भाषा में नाव को 'सफीना' कहते हैं । पारसी और संस्कृत का निकट सम्बन्ध भी भाषा तत्वज्ञों द्वारा माना जाता है । हो न हो, 'शफरी' और 'सफीना' का भी कुछ ऐसा संबन्ध हो जिससे मछुओं की नाव का सहरी नाम भारत की संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं की सन्तान भाषाओं में प्रचलित हो गया हो । निष्कर्ष यह निकलता है कि 'सहरी' को मछली का बोधक शब्द न मान कर नाव माना जाय तो कोई हानि नहीं है बल्कि लाभ ही है ।

विजिया

शब्द-चर्चा हेड़ाऊ, हेड़विक, हेड़ावाहक

शब्द नित्य होते हुए भी कभी प्रकट, कभी विकसित और कभी तिरोहित होते हैं । समय की आवश्यकता उन्हें आविर्भूत, उसी आवश्यकता का बदलता स्वरूप उन्हें विकसित, और उसी की निवृत्ति उन्हें तिरोहित करती हैं । अतः शब्दों का इतिहास मानों किसी समाज की समस्त आशाओं, अभिलाषाओं, भावनाओं, स्फूर्तियों, आवश्यकताओं, सफलताओं और विफलताओं, का इतिहास है । हर एक शब्द किसी अंश में अपने समय का प्रतीक है, उसने जीवन के किसी भाग को जिस रूप में चित्रित किया है उसे समझना उस जीवन को समझना है ।

इसी विचार से विश्वम्भरा समय समय पर अनेक शब्दों की चर्चा करती रहेगी। आज हम हेड़ाउ या हेड़विक शब्द को लेते हैं जो प्रायः अपनी इहलीला को संवरण कर चुका है। सुना है कि होली के समय बीकानेर में अब भी 'हेड़ाऊ मीरी' नाम के किसी प्रहसन का अभिनय किया जाता है किन्तु हेड़ाऊ का ठीक अर्थ किसी अभिनय देखने वाले से हमें ज्ञात न हो सका। हेम हेड़ाऊ की कथा भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि प्रकृति प्रेमी इस हेड़ाऊ ने नदी में अकस्मात् गिरे हुए मोतियों को निगलने के लिए एकत्रित मछलियों के दृश्य से विमुग्ध होकर अपने सब सच्चे मोतियों को बालद से उतरवाकर मछलियों को खिला दिया।

इस प्रसंग से हेड़ाऊ के अर्थ का कुछ अनुमान किया जा सकता है। किन्तु इससे भी अधिक उपयुक्त अवतरण भाण्डउ व्यास के हम्मीरायण काव्य में है। उलुगखां ने हम्मीर पर जब आक्रमण किया तो उसने कानों कान किसी को खबर न होने दी। उसने करमदी नाम के स्थान को आधी रात के समय जा घेरा : किन्तु उस समय —

> हेड़ाउ जाजउ देवड़उ, घोड़ा ले आयु बीकणउ :
> सोवति तिथरी उतरी जिहा, तिसी करमदी वींटी तिहां ॥६८॥
> जाजउ बाहर चढ्यउ जिणवार, पंच सहस लीधा तोखार,
> कटक विणास कीयउ अति घणउ, जोउ प्राक्रम प्राहुणा तणउ ॥६९॥
> सोवति लेइ जाजउ गढि गयउ, राय हम्मीर तणउ भेटियउ :
> राति तणउ कहीयउ विरतंत, आगइ लीधउ बहु वइ वित्त ॥७०॥

'हेड़ाऊ जाजा बिक्री के लिए घोड़े लाया था। जब उसका साथ वहां उतरा उसी समय (उलुगखां ने) करमदी को आ घेरा। जब जाजा ने बाहर निकल कर उस पर आक्रमण किया तो उसके पास पांच हजार घोड़े थे। उसने बहुत सी सेना का नाश किया। *यह पाहुने जाजा* का पराक्रम देखो। अपने साथ लेकर जाजा (रणथंभोर) गढ़ गया और राजा हम्मीर से मिला उसने रात का वृत्तान्त कहा। जाजा को स्वामी से बहुत वित्त मिला।

इस अवतरण से प्रतीत होता है कि 'हेड़ाऊ' अश्व-व्यापारी को

१. अश्वव्यापार किसी समय भारत के लिए अत्यंत आवश्यक

सेना के लिए सबसे बढ़िया घोड़े केकाण, तोषार, ताजिक, बनायुज आदि देशों से आते । कुछ व्यापारी सम्भवतः विदेशी थे, किन्तु कुछ अश्वव्यापारी भारतीय भी रहे होंगे । जाजा ऐसे ही व्यापारियों में से एक था । साहस, शौर्य, निर्भीकता, अमित सहनशक्ति आदि गुणों से परिलक्षित वीर जाजा वास्तव में हेड़ाऊ शिरोमणि था ।

गायकवाड़ प्राच्यमाला में प्रकाशित 'लेखपद्धति' नाम के ग्रंथ में घोड़े की बिक्री का एक पट्टा (पृ० १३) इस प्रकार से है:-

'सम्वत् ८०२ वैशाख सुदी गुरु के दिन यला नाग राज आदि पञ्चकुल हेडाउ नाग को यह अश्वविक्रमपट्टक देता है कि अमुक व्य० (व्यवहारी) के पास से हेड़ाउ नागड ने एक पण्ड-घोड़ा ५००० द्रम्मों में खरीदा है । उसको शुल्क रूप में उसका दसवा भाग ५०० द्रम्म उसने श्रीकरण में जमा कर दिए हैं । देश से देशान्तर में जाते हेड़ाउ नागड का कोई भी किसी प्रकार की बाधा न दें ।'

इस अवतरण में भी हेड़ाउ कोई अश्वविक्रयी व्यापारी है जो घोड़ों की हेड़ की हेड़ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है ।

श्री जिनपाल-रचित खरतरगच्छपट्टावलि में हेड़ाऊ शब्द 'हेड़ा-वाहक' के रूप में है । जिनपति सूरि और प्रद्युम्नाचार्य में आशापल्ली में जब शास्त्रार्थ हुआ और प्रद्युम्नाचार्य ने कुछ पन्नों की उल्टा पल्टी की तो 'हेड़ा-वाहक' श्री मालवंशीय बीरणाग ने दण्डनायक अभयड से कहा, 'क्या तुम्हारे नगर में उसी का निग्रह किया जाता है जो रात में चोरी करता है' और प्रोढ़दिन में चोरी करता है वह बरी रहता है ?" इस पर मध्यस्थता इधर उधर देखकर दण्डनायक अभयड ने कहा-"हेड़ावाहक, यह तुमने क्या कहा !"

इस अवतरण से शास्त्रार्थ का अनुमान कुछ कठिन नहीं किया जा सकता । किन्तु हेड़ाविक या हेड़ाऊ शब्द की व्युत्पत्ति की ओर हम कुछ अग्रसर होते हैं । 'हेड़ा' का वाहक ही 'हेड़ाऊ' है ।

शब्द का सब से प्राचीन उल्लेख हमें [illegible] द्वितीय

के वि० सं० १०3० (सन् ६७३ ई०) के हर्ष शिलालेख में मिला है । समस्त मम्मह वणिजों की देशी ने सांभर- में नमक के प्रति ढेर पर एक विंशोपक मुद्रा को और उत्तरापथ के हेड़ाविकों ने प्रति घोड़े पर, एक द्रम्म का दान दिया (लेख की पंक्तियां २६-३०) । इस अवतरण में भी 'हेड़ाविक' का अश्व-विक्रय से सम्बन्ध स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट है। किन्तु ये हेड़ाविक राजस्थानी न होकर उत्तरापथ के थे जहां आरट्ट, काम्बोज आदि अश्वजातियां उत्पन्न होती हैं और जो आश्वोत्पादक देशों के निकट है ।

घोड़ों के व्यापार के अन्यत्र भी उल्लेख मिलते हैं । हमे पेहा के ८८२ ई० शिलालेख से ज्ञात है कि कुछ मंडियों में तो राज ही अश्व खरीद सकता था; किन्तु अन्य मंडियां ऐसी थीं जिसमें अन्य ग्राहक के लिए भी क्रय विक्रय का अवकाश था इसी शिलालेख में घोटक-यात्रा में पेहे में एकत्रित अनेक अश्व व्यापारियों के दानों का उल्लेख है । किन्तु इस प्रसंग में हेडविक शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है । अतः हेडविक शब्द का इतिहास हम निश्चित रूप से वि० सं० १०३० तक ही ले सकते हैं ।

'हेड़ की हेड़' आदि वाक्यांशों में हेड़ शब्द अब भी प्रयुक्त है। सुपासनाह चरिअ में समूहार्थ में देशी शब्द 'हेडाका' प्रयोग उपलब्ध है। हेड़ाऊ, हेड़विक या हेड़ा-वाहक का आद्यंश यही शब्द है । घोड़ों के समूह का नाम ही शायद हेड़ या हेड़ा था । इस समूह के साथ चलने से अश्व विक्रेता हेड़ावाहक के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे । और यही हेड़ावहक शब्द समय क्रम से हेड़विक और हेड़ाऊ रूप में परिवर्तित होता हुआ हमारे समय तक पहुंच गया है । अब वह समय व्यतीत हो चुका है जब अश्व सेना के बिना विजगीषु की जिगीषा व्यर्थ थी, वह समय भी अब नहीं है जब राजाओं और महाराजाओं के लिए निर्दिष्ट किसी अश्वघटा को पकड़ कर दल्पाभिलाषी राजपूत एक नवीन राज्य की स्थापना ही कर डालते। ऐसी दशा में स्वभावतः हेड़ाऊ और हेड़ दोनों या ही अस्तित्व प्रायः समाप्त हो चुका है, और यदि है भी तो ऐसे अर्थ में जिसकी हेड़ाऊ जाखा, हेड़ावाहक धीरलाल, और उत्तरापथ के हेड़ाविकों ने कभी कल्पना भी न की होगी ।

ऐतिहासिक भूगोल

भादानक देश और बयाना नगर

भादानक देश का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। राजशेखर ने सब मरुदेश के वासियों, टक्कों, और भादाणकों को अपभ्रंश का प्रयोग करने वाला माना है।[1] बिजौलिया के सं० १२२६ के शिलालेख में लिखा है कि विग्रह राज ने भादान-पति को भा (कान्ति) से रहित कर दिया था।[2] खरतरगच्छपट्टावली के उल्लेखों से, हमें ज्ञात है कि शाकम्भरीश्वर पृथ्वीराज तृतीय ने सं० १२३६ से पूर्व भादान नेश के शक्तिशाली राजा को बुरी तरह से पराजित किया।[3] स्कन्दपुराण में भादान देश के एक लक्ष (ग्रामों) का उल्लेख है।[4] शाकम्भरी राज्य सपादलक्ष था। सिद्धसेन सूरि ने भादान देश की स्थिति कन्नौज और हर्षपुर के बीच में दी है और उसके सिरोह और कम्भरा नाम के स्थानों के नाम[5] दिए हैं। विविधतीर्थ कल्प से हमें ज्ञात है कि सिरोह दौलताबाद और दिल्ली के मार्ग में था और ग्वालियर सरकार के थलापुर नाम के दुर्ग से पर्याप्त उत्तर में था।[6]

इन संकेतों के आधार पर हम इससे पूर्व भादानक देश की ठीक अव-स्थिति का अनुमान करने का प्रयत्न कर चुके हैं।[7] किन्तु उसका वास्तविक ज्ञान जैन प्रशस्ति संग्रह, खण्ड २, की अंग्रेजी भूमिका लिखते समय हमें आज ही

Foot notes

१. सापभ्रंश प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क भादानकाश्च ।
२. भादानीयं यश्चक्रे भादानपतेः प्रभ्य भादान
३ देखें, Early Chauhan Dynasties पृ ७४
४. कुमारिकाखण्ड, अध्याय ३९.
५ पुरातन प्रकार के ग्रन्थों का सूचि पत्र, खण्ड १ पृष्ठ १२६
६. पृ १४, सिंघी जैन ग्रंथमाला प्रकाशन
७ देखें, Early Chauhan Dynasties पृ ११-२

हुआ है। उसके ग्रंथ २८-२६ आदि की रचना कवि तेजपाल द्वारा मादानक देश के सिरिपह नाम के नगर में हुई जहाँ का शासक दाऊद शाह था। तेजपाल का समय सम्वत् १५१० के आस पास है। सिरिपह श्रीपथ का अपभ्रष्ट रूप है। यह नगर अब बयाने" के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ वि० स० १०१२ तक शूरसेन वंश का राज्य था और बाद में भी संभवतः यही वंश या उसकी शाखा यहां पर राज्य करती रही।

सन् ११९६ में मुहम्मद गौरी ने और त्रिभुवन गिरि पर अधिकार किया और बहाउद्दीन तुगरिल को इनका शासक बनाया। सन् १२१५ में बयाने का शासक कुतलुग खां था। सन् १२५९ में बल्बन ने बयाने और ग्वालियर की जागीरें सुंकर को दी। सन् १३ ९८ में तैमूर खाँ के आक्रमण के बाद बयाना के जागीरदार शम्स खां औहदी ने वहां अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। सय्यद सम्राट् खिज्र खां से उसका सम्बन्ध मैत्री पूर्ण था। सन् १४२६ में मुबारक शाह सय्यद ने बयाने के मुहम्मद खां औहदी पर आक्रमण कर उसे पराजित किया, किन्तु मुहम्मद खां ने पुनः बयाने पर अधिकार कर अनेक कारणों से मई, सन् १४२७ में खाली कर दिया। कुछ समय बाद औहदी वंश ने अवसर पाकर फिर बयाने को हस्तगत किया। संवत् १५११ में जब तेजपाल ने श्रीपथ (बयाने) में अपने ग्रंथ लिखे इसी मुहम्मद खां का पुत्र दाऊद शाह वहां राज्य कर रहा था।

अतः तेजपाल की प्रशस्तियों और मुसलमानी इतिहासों से यह निश्चित है कि श्रीपथ (बयाने के आस पास का प्रदेश ही मदानक या भयाणअ के नाम से प्रसिद्ध था। यही भयाणअ फारसी लिपि की कृपा से बयाना में परिवर्तित हुआ। मुसल्मानों से पूर्व बयाना नाम भारतीय साहित्य और इतिहास में नहीं मिलता।

दशरथ शर्मा

ता० ६-१-६३

ई ४/१, कृष्णनगर, दिल्ली ३१

---

८. देखें, Rajasthan Through the Ages, खण्ड १ (प्रकाश्य)

राजस्थान और उत्तर प्रदेश के पञ्चायती राज्य के दो इकरारनामे

वि. सं. ११९८ और वि. सं. १२३०

भारत में राज्यों का प्राचीन काल से उदय और अस्त होता रहा है। कभी एक राज्य ने तो कभी दूसरे ने यहां राज्य किया है। किन्तु प्रबल से प्रबल भारतीय राज्यों की सत्ता भी प्रायः सीमित रही है। कुछ बातों को उन्होंने सदा अपने अधिकारों से बहिर्भूत ही समझा; और इन्हीं बहिर्भूत विषयों में एक ग्राम्य शासन भी रहा है। सभी प्राचीन भारतीय शासक यह समझते रहे कि अपनी घरेलू समस्याओं को ग्रामीण ही सब से अधिक समझते रहे हैं, और वही उन्हें सुलझाने के लिए सब से उपयुक्त व्यक्ति हैं। स्मृतिकारों ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कात्यायन ने लिखा :—

> देशस्था नुमतेनैव व्यवस्था या निरूपिता।
> लिखिता तु सदा धार्या मुद्रिता राजमुद्रया॥
> शास्त्रवद् यत्नतो रक्ष्या ता निरीक्ष्य विनिर्णयेत्॥

(देश की अनुमति से जो व्यवस्था निरूपित हो उसे लिखित रूप में राजमुद्रा से मुद्रित कर रखना चाहिए, उसकी उसी यत्न से रक्षा होनी चाहिए जैसी शास्त्र की, और उसी का निरीक्षण कर निर्णय करें।)

अर्थशास्त्रकार कौटल्य आदि ने भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करने का उपदेश दिया है, और अनेक रूप से ग्रामीण जनता को अपनी सुरक्षा, कुल्यादि विधान, सुशासनादि के लिए प्रेरित किया है।

जनपदों का एक मुख्य गुण यह था कि वे एक दूसरे की रक्षा कर सकें। यह गुण ग्रामों में अपेक्षित था। आज कल डाकुओं का उपद्रव होने पर ग्रामीण प्रायः चुप चाप बैठे रहते हैं। चोर आदि का पकड़ना मुख्यतः पुलिस विभाग का कार्य समझा जाता है। किन्तु प्राचीन राजस्थान और उत्तर प्रदेश आदि

देश के विभागों में हर एक ग्रामीण को बहुत कुछ अपने पैरों पर खड़ा रहना पड़ता अन्तर्देशीय सुव्यवस्था किसी मन्त्री या अध्यक्ष विशेष की ही नहीं, जनता की देखभाल की भी वस्तु थी। इसी तथ्य के दृष्टान्त रूप में हम शिला लेखों के रूप में प्रस्तुत दो प्राचीन व्यवस्थाओं से यहां उदाहरण दे रहे हैं।

इनमें पहली व्यवस्था नाड़ोल (राजस्थान) के निकटवर्ती धालोप ग्राम की है। चौहान वंशी महाराजाधिराज श्रीराम पालदेव के राज्य में वि॰ सम्वत् ११६८, श्रावण कृष्ण अष्टमी, रविवार के दिन धालोप ग्राम के ८ वाड़ों (वाड़ों) के प्रतिनिधि सोलह ब्राह्मण एकत्रित हुए।
इनके नाम थे–

मेरीवाड़ा	से	वीरिगु	और	प्रभाकर
डीपावाड़ा	से	आसदेउ	और	महडू
दुंहणवास	से	देउ	और	धाहडि
मांगुरवाड़ा	से	मुहंकत	और	दियाकर
पोपलवाड़ा	से	देवाइचु	और	धारउ
आंविलवाडा	से	नारायण	और	महाइच
खड्गमलावाड़ा	से	आसिगु	और	आसपालु
गुंदवाड़ा	से	देंयगु	और	आंविगु

इनमें देवाइचु को उन्होंने अपना मध्यस्थ नियत किया और सब लोगों की ओर से उन्होंने निम्नलिखित व्यवस्था पर हस्ताक्षर किए,

"मार्ग चलते भाटपुत्र, दौवारिक, कार्पटिक, वणजारे आदि समस्त लोगों का कोई माल यदि खोया जाए या उसे कोई छीन ले तो देशाचार से और चौहड़ी के प्रवाह से हम उसे वापस दिलाएंगे। अपने स्थान पर गई वस्तु स्थान से भी दी जाएगी। जब तक हम यह कार्य करेंगे महाराज श्री रायपाल को हमें दण्डपाशिक (पुलिस) और अन्नादि के कर से मुक्त करना पड़ेगा और हमारे बीच में दण्डपाशिक (पुलिस) न रखेंगे। यह लोकहित कार्य हमने स्वयं अङ्गीकृत किया है और हम इसे पूर्ण करेंगे। इस तरह से राजकार्य करते समय हम में से कोई ब्राह्मण यह कार्य सम्पन्न न करे, पेट या पीठ दिखाए, या बहुत जाने [illegible] ब्राह्मण या [illegible] बन कर भागता है।
[illegible]

राजा भी रायपाल आदि के थाल में इससे गांठ भी न पड़ेगी और न उन्हें कोई तोष लगेगा।"

इसके बाद अनेक प्रतिष्ठित साक्षियों के हस्ताक्षर हैं। इसका लेखन थालोप के सब लोगों की सम्मति से वादिग के पुत्र गौडान्वय कायस्थ ठाकुर पेथड़ ने किया।

इस व्यवस्था में कई बातें द्रष्टव्य हैं। धालोप गांव आठ वाडों में बंटा है और उनके प्रतिनिधियों को गांव की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकार है। मध्यस्थ देवाइच्च (देवादित्य) सम्भवतः इस प्रतिनिधि मण्डल का प्रमुख है, गांव में राज्य द्वारा नियत रक्षाकार भी वे रखना नहीं चाहते। यह बात कुछ नई न थी। प्राचीन शासनों में 'अचारभट्ट प्रवेश्य' शब्द प्रायः रहते हैं, जिससे, प्रतीत होता है कि राज्य के सिपाहियों को अपने गांवों में रखना उन्हें पसन्द न था। उन्हें रखने में एक असुविधा सम्भवतः यह भी थी कि उनके भोजन सवारी आदि का प्रबन्ध भी गांव वालों को करना पड़ता। इससे अच्छा उन्होंने यही समझा कि पुलिस के हस्तक्षेप और राज्य के कर से मुक्त रह कर वे स्वयं अपने गांव का प्रबन्ध करें। किन्तु कभी कभी कोई कोई ग्रामीण अपने कर्तव्य को पूरा न करता। हर एक से आशा की जाती थी कि वह लापता माल को ढूंढने में मदद दे और जरूरत पड़े तो हर्जाना देकर कमी पूरी करे। ढांक चौकी द्वारा चोरों को ढूंढने की पद्धति– जिसका श्रेय प्रायः शेरशाह को दिया जाता है राजस्थान में प्राचीन काल से वर्तमान थी। इसमें हिस्सा बंटाना भी ग्रामीण का कर्तव्य था। ऐसा न करने पर उसे दण्ड न देने का राज्य को अधिकार था।

गायकवाड़ प्राच्यग्रंथमाला में प्रकाशित 'लेख पद्धति' से गुजरात में [illegible] इस प्रथा का अनुमान किया जा सकता है। इसमें पृष्ठ ७ पर एक राजदत्त- (राजा द्वारा दिये हुए पट्टे या जागीर) का नमूना है जिसमें जागीरदार पर लगा[illegible] हुई शर्तों में ये तीन शर्तें भी हैं कि 'वह ग्राम में रक्षापालत्व करे। लूट खस[illegible] से लोगों की रक्षा करे। अपनी सीमा में मुसाफिर और रहने वाले लोगों [illegible] वस्तुओं को वापस लाकर दे।' इससे प्रतीत होता है कि पुलिस कार्य प्र[illegible] जागीरदार का, अन्यथा स्वयं ग्राम वासियों का था। जागीरदार भी सम्भ[illegible] कार्य ग्रामवासियों को सौंप देते हों।

दूसरी व्यवस्था कन्नौज [illegible] के समय के संवत् ११[illegible]

आश्विन कृष्णा द्वादशी के दिन लिखी गई थी। "वटु और टुण्टों से अभि-होकर लाहड़पुर में एकत्रित ब्राह्मणों ने यह इकरारनामा (संविद) किया था जो उन्हें बदनाम कर गांव को लूटे, उसका द्रोह करे, गाय, भैंस आदि को में डाल ले उसकी चक्षु बाधा की जाय और उसका सर्वस्व छीन लिया जाए। जो आदमी उसका समर्थन करे उसका घर भग्न कर उसे निकाल दिया जाए। इस कार्य में जो विमत हो या रोक टोक करे यह श्वान और गर्दभ के तुल्य माना जाए इसमें भगवान् द्वादशार्क साक्षी हैं।"

इस व्यवस्था में भी ग्रामीण समाज का महत्व द्रष्टव्य है। वे अपने गांव की बदनामी नहीं चाहते। 'वटु' और 'टुण्ट' उन्हें बदनाम कर रहे हैं। उन्हें दण्ड देने का भार ग्रामवासी स्वयं अपने पर लेते हैं। स्थिति कुछ इंग्लैण्ड की सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ की सी है जब सशक्त अनेक भिक्षुओं ने ग्राम्य जीवन को अत्यन्त कष्ट कर बना दिया था। यहां कष्ट देने वाले 'वटु' और 'टुण्ट' हैं जो अंग्रेजी भिक्षुओं की तरह सम्भवतः भिक्षावृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करते हैं।

यह कष्ट कर स्थिति मुसलमानी आक्रमणों के कारण उत्पन्न हुई होगी। महमूद गज़नवी के समय से मुहम्मद गोरी तक लगातार उत्तर प्रदेश पर मुसलमानी आक्रमण होते रहे। गोविन्द चन्द्र आदि गाहडवाल राजाओं ने स्थिति को बहुत कुछ सम्भाला, परन्तु फिर भी आर्थिक व्यवस्था पूरी तरह न सम्भली। जब स्वयं भी कृषक को भरण पोषण की कठिनता पड़ी थी उस समय 'वटुओं' और 'टुंटों' का कौन आसानी से पोषण कर सकता था। ऐसी स्थिति में वटुओं और टुंटों ने जबरदस्ती लोगों से धन आदि वसूल कर अराजकता की वृद्धि की थी गाएं और भैंसे तक उन्होंने घेर डाली। स्वयं जनता ने इसका विरोध करना उचित समझा। कुछ 'वटु' और 'टुण्ट' लहड़पुर के ब्राह्मणों में से रहे होंगे। इसलिए उन्हें उचित दण्ड देने का काम स्वयं तत्स्थानीय ब्राह्मण समाज ने अपने ऊपर लिया।

उत्तर भारत में जनता स्वयं एकत्रित होकर किस प्रकार अपनी समस्याओं को हल करती थी, उसके ये दो इकरारनामे निदर्शन मात्र हैं। किन्तु अच्छी बुरी सभी स्थितियों में जनता ने स्वयं कार्य करना और स्थिति पर काबू पाना सीखा था। हर एक बात में राज का मुंह ताकने की आदत उसे न थी।

दशरथशर्मा

श्री दीनदयाल ओझा

बीकानेर के प्राचीन तथा अर्वाचीन काष्ठ मूर्ति-कलाकार

"साहित्य-संगीत कलाविहीनः,, भर्तृहरि के इस पद्यांश में साहित्य और कला को एक ही श्रेणी में रक्खा गया है परन्तु खेद यही है कि साहित्यिक पत्रों और पत्रिकाओं में साहित्यिकों के परिचय के साथ कलाकारों के परिचय का कोई स्तंभ नहीं होता। हिन्दी विश्व भारती का उदार दृष्टिकोण भावाभिव्यक्ति और सौन्दर्याभिव्यक्ति की दृष्टि से कलाकारों का भी पूर्ण सम्मान करता है और समय समय पर उनका अभिनन्दन भी करता है।

विश्वभारती में बीकानेर के कुशल काष्ठ मूर्ति निर्माताओं, चित्रकारों और मृत्तिका-मूर्ति निर्माताओं के नाम तथा उनका परिचय उपलब्ध है। नव वर्ष के इस हिमालयाङ्क में गणगौरी (शिव पार्वती) की काष्ठमूर्तियों के निर्माता बीकानेर के कुछ सूत्रधारों (सुथारों) का परिचय दिया जा रहा है। इनकी इन कृतियों का सम्मान केवल राजस्थान में ही नहीं अपितु अमेरिका में भी इनको आदर की दृष्टि से देखा गया है।

प्राचीन काष्ठ-मूर्ति निर्माताओं में सर्व श्री धीरमाणजी हीरजी, तेजोजी, मेघजी, मघजी (चेड़ीसर वाले) विशेष उल्लेखनीय हैं। उक्त समस्त कलाकार जाति से सूत्रधार (सुथार) थे। इनमें से अधिकांश काष्ठ-मूर्ति निर्माण अथवा लकड़ी पर बारीक खुदाई का काम किया करते थे। गवर और ईसर की काष्ठ मूर्तियां बनाने में इनकी तुलना करने वाले दूसरे नहीं थे। परन्तु सूत्रधार हीरजी लकड़ी के साथ साथ पत्थर पर भी बड़ी अच्छी खुदाई का काम करते थे। इनका बनाया हुआ देशनोक में करणी माताजी का प्रमुख द्वार इनकी कलाकृति का अनुपम उदाहरण है। अपनी इस कला शक्ति के कारण हीरजी बीकानेर के महाराजा श्री गंगासिंहजी के बड़े प्रिय थे।

वर्तमान कलाकारों में सर्व श्री रामूजी के आत्मज मोहनों जी, पेम्जी के आत्मज लाल्जी, किसनोजी के आत्मज श्री ईसरजी, मघजी के आत्मज श्री कादूजी विशेष उल्लेखनीय हैं।

सूत्रधार मोहनजी

श्री रामूजी के आत्मज मोहनजी इस समय आयु की दृष्टि से ६० वर्ष के हैं। युवकों की भांति क्षमता एवं उत्साह लिये श्री मोहनजी सदैव काष्ठ-मूर्ति निर्माण कार्य में संलग्न रहते हैं। इन्होंने काष्ठ-कला का कार्य सूत्रधार बालूजी के आत्मज श्री रामकृष्णजी से सीखा।

'गवरजा' और 'ईसर' की काष्ठ मूर्ति, बनाने में आप इस समय अग्रणी माने जाते हैं। वर्तमान समय में बीकानेर के महाराजा की जो 'गवर' की सवारी निकलती है, वह गवर मूर्ति इन्हीं के कुशल हाथों से बनी है। आपकी बनी अन्य कला पूर्ण चीजों का प्रदर्शन आए दिन कला प्रदर्शनियों में होता रहता है।

श्री तारूजी

श्री तारूजी, घेरूजी सुथार के सुपुत्र हैं। इस समय इनकी आयु ४५ वर्ष के लगभग है। काष्ठ-मूर्ति कला में आप अत्यधिक प्रवीण है। आपकी बनाई हुई अनेकों काष्ठ मूर्तियां राज प्रासादों एवं धनिकों के भव्य भवनों का शृंगार हैं। राजस्थान में आयोजित होने वाली कला प्रदर्शनियों में आपके कुशल हाथों से बनी अनेकों कला कृतियां सदैव पुरस्कृत होती रहती है। 'गवर' और 'ईसर' के जोड़े बनाने में आप विशेष विख्यात है। पिछले वर्षों में आपने एक 'गवर' 'ईसर' का जोड़ा बनाया जो समग्र राजस्थान में उस वर्ष की काष्ट मूर्तियों में सर्वोत्कृष्ट माने जाने के साथ साथ एक उच्चतम कला कृति के रूप में अमेरिका भेजा गया।

श्री ईसर जी

सूत्रधार किसनो जी के आत्मज श्री ईसर जी काष्ठ मूर्ति निर्माताओं में अपना गोरव पूर्ण स्थान रखते हैं उन्होंने गवर-ईसर के अतिरिक्त अनेकों काष्ठ मूर्तियां बनाई जिनका प्रदर्शन अनेकों कला प्रदर्शनियों में होता रहा है। आप काष्ठ के अतिरिक्त लोह से भी अनेकों कला पूर्ण मूर्तियों का निर्माण करते हैं। वर्तमान समय में आप बीकानेर रेल्वे वर्कशॉप के कर्मचारी हैं और वहाँ के कुशल कारीगरों में आपका विशिष्ट स्थान है। दिल्ली में आयोजित होने वाली अनेकों कला प्रदर्शनियों में आपकी कलाकृतियों का सफल प्रदर्शन होता रहता है। आपकी कई कला कृतियां पुरस्कृत भी हो चुकी हैं। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से आपकी बनाई हुई काष्ठ मूर्तियां विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

साहित्य सुधाकर श्री सुजानमल गोस्वामी

अग्नि पुराण का व्याकरण खण्ड

अग्नि पुराण के ३५१ वें अध्याय से व्याकरण प्रारम्भ होता है, इस अध्याय में चतुर्दश सूत्रों का उल्लेख कर प्रत्याहारों की गिनती की गई है। इसके आगे के अध्याय में १७ श्लोकों में अच्सन्धि, व्यञ्जन सन्धि और विसर्ग सन्धि के उदाहरण दिये गये हैं। सन्धिक्रम कौमुदी और चन्द्रिका आदि से सर्वथा भिन्न है। सब से पहले गुण की अपेक्षा दीर्घ के उदाहरण दिये गये हैं यथा:- दण्डाग्रम्, मालाना दधीदम् आदि गुणों में अर्धर्च.., तवल्कार समान उदाहरण है।

प्रतीत होता है, अग्नि पुराण के बहुत से उदाहरण आगे के व्याकरण ग्रन्थों में लिये गये हैं। अमी एते- भी अग्नि पुराण का है।

सर्वाश्छात्रः सर्वांस्तनोति अग्नि पुराण का यह उदाहरण ही सारस्वत में है। इसके बाद सातों विभक्तियों का पाणिनीय सूत्रों के अनुसार निरूपण किया गया है और इसके उदाहरण, सुश्री, सुधी, क्रोष्टा, नप्ता, ग्लौ, आपः अर्वन् श्वा युवा, मघवा आदि अग्नि पुराण से ही लिये गये हैं, अग्नि पुराण में अनड्वान ,षड्का, आदि भी व्याकरण के रूप, दिक् प्राक्, प्रत्यक् आदि भी मिलते हैं:- प्रतीत होता है कि अग्नि पुराण के आधार पर ही भट्टि कवि ने अपने काव्य श्लोकों में व्याकरण के रूपों का प्रयोग किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग के रमा, जरा, सर्वा, नदी, श्री, स्त्री आदि सब शब्द अग्निपुराण के स्त्रीलिंग के ही हैं जो कि सिद्धान्त कौमुदी आदि में मिलते हैं।

कारक में कर्त्ता ४ प्रकार का और कर्म ७ प्रकार का करण ? प्रकार का, सम्प्रदान ३ प्रकार का अपादान २ प्रकार का और अधिकरण ४ प्रकार का बताया गया है।

समास के

षोढा समासं वक्ष्यामि, अष्टाविंशतिधा पुनः
नित्यानित्यविभागेन लुगलोपेन च द्विधा

तत्पुरुष ८ प्रकार, कर्मधारय ७, बहुव्रीहि ७ द्विगु २ प्रकार का, द्वन्द्व २ प्रकार अव्ययीभाव ? तद्धित में दाशरथिः शारवि, पटीयान्, तन्तुर- प्रभिता आदि चार पांच शब्दों को छोड़ कर बाकी अग्निपुराण के सभी तद्धित शब्द प्राचीन शब्दावली के प्रतिनिधि है।

समीक्षा

"राजस्थानी गूंज"

रचयिता:- श्री मनोहर शर्मा मंजुल
प्रकाशक:- "राजस्थान प्रकाशक" मूल्य १. ५०.
१७/१ बी. नीम तल्ला घाट स्ट्रीट कलकत्ता ६.

राजस्थानी की अभिनव कृतियो में "राजस्थानी गूंज" राजस्थानी में सरल भाषा की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। प्रस्तुत पुस्तक में २१६ सोरठों का सुन्दर संकलन है। सोरठों की भाषा शेखावाटी में प्रयुक्त राजस्थानी भाषा है और स्थान स्थान पर खड़ी हिन्दी से भी प्रभावित है।

सोरठों का भाव गांभीर्य सरल भाषा में ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वच्छ जल तल में कमनीय कान्त मणि स्पष्ट दिखाई पडे, किन्तु उसकी उपलब्धि हमें तभी संभव है जबकि हम उसके भावगंभीर तल में डुबकी लगाने का यत्न करें।

कवि ने "राजस्थानी गूंज" में नीति, धर्म, अध्यात्म विषयक हिन्दी संस्कृत के अनेक सुभाषितों का अत्यन्त सुन्दर भावानुवाद किया है इस प्रकार इस कृति में समन्वयवादी, राष्ट्रीय विचारों की पोषक, राजस्थानी भाषा में नीति विषयक साहित्य में श्रीमवृद्धि करने वाली, अन्ध विश्वास और रूढ़ीवाद के मर्म पर प्रहार करने वाली अनेक गूँजे तो प्रतिध्वनित होती ही है किन्तु कवि की मनोवैज्ञानिक सूझ की झंकृति भी कम नहीं है।

निम्नांकित सोरठे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है:-

(१) मोथो टूंट कुरूप तो भी पूत सुहाय सी,
(२) हियड़े की या भूख थोरी मिटै मञ्जुला।

पुत्र चाहे कितना ही कुपुत्र क्यों न हो किन्तु माता पिता का ममता मय स्नेह उस पर कम हो ही नहीं सकता क्योंकि पुत्र के प्रति वात्सल्य प्रेम मनुष्य के हृदय की एक स्वाभाविक भूख है।

इसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान तन्तुओं पर तो उसकी हास्य भावना का, उसकी प्रसन्न विनोद का सुन्दर प्रभाव पड़ता ही है किन्तु भावनाएँ और विचारों के संस्-

मक देने के कारण समीपस्थ व्यक्तियों पर भी उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इसीलिए कवि कहता है:-

> हाँस हाँस तूँ हाँस, लागै मो जग हाँस सी,
> रोवणिये की फाँस कोई फँसै न मंजुला।
> हँसणो घणो सरूप, ज्यूँ मोरयाँ में च्यानणो,
> दीसै घट को रूप हियो धरा प मञ्जुला।

मन की सभी प्रकार की असद् ग्रन्थियों के निवारणार्थ मनोवैज्ञानिक, बालकों में ईश्वर दर्शन, व उनके प्रति प्रेम भावना के विकास पर अधिक जोर देते हैं, इससे विचारों का सुसंस्करण होता है अतः मञ्जुला जी भी बालकों में ईश्वर दर्शन की प्रेरणा देते हैं:-

> टाबरियाँ सूँ प्यार, सदा राखणो यूँ समन,
> ईश ज्योत को सार झलकै आँ में मञ्जुला।

सुख तथा शान्ति की उपलब्धि बिना सुदृढ़ हुए असंभव है, अतः कवि कहता है:-

> सुख पावण रो सार, मिलै विचारां माय दृढ़,
> सोंधे बिनु विचार सुख टहरै नीं मञ्जुला।

[illegible]

"रामलिया मन मोद"

[illegible]

[illegible]

[illegible]

"रेशमी के पुष्प" "दुलना मय" "अधूरे गान" "मगध नरेश" "कृतज्ञता" 'शान्ति परिधि" और 'अमर मुक्ति, शीर्षक कविताएं' रहस्यवाद की उत्कृष्ट रचनाएं हैं।

प्रस्तुत मधुशाला शीर्षक गीत छायावाद का उदाहरण है:-

झूम रही तरु की डाली है।
उपवन की है छटा निराली,
भौंरे पीते भर भर प्याली,

कलियों के नर्तन से मधुकर, भरता खुशियों की डाली है।

शतावन में, मधुमाधवी, मिलन माधुरी, और "मरुधरा" शीर्षक कविताएं छायावाद की पृष्ठ भूमि में सुन्दर बन पड़ी हैं।

दीन भिखारी क्यों रोता है?
कमी नहीं इस जग में धन की
चाह पूर्ण हो सकती मन की।
तब क्यों सिसक, सिसक कर बेबस, अश्रुवारि से मुख धोता है।
मैं तुम को अपना सुख दूँगा,
आंसू क्यों आँखों से झरता
झर झर मानो झरना झरता।
आओ मेरे पास, न सहमो, बदले में तेरा दुःख लूँगा।

इन कविताओं में में कवि का करुणा विगलित हृदय ही उमड़ पड़ा है। उसने केवल समस्या का उपस्थापन ही नहीं किया, प्रत्युत उसका समाधान भी दे दिया है।

राष्ट्र निर्माण तथा योजना की दिशा में भी कवि सावधान है। वहाँ उसकी कला कला के लिए न होकर जीवन के लिए हो उठी है। "अभिनन्दन" "अभिनव मर्दन" "अमृत और "अमर दीप" आदि गीत नवीन चेतना के प्रतीक हैं।

इसके अतिरिक्त इसमें कुछ और भी विभिन्न प्रकार के गीतों का संकलन किया गया है जिनसे कवि की अनुभूति के व्यापक दर्शन होते हैं। परमानन्द सारस्वत

"हरिरस"

संपादकः- श्री बदरीप्रसाद साकरिया
प्रकाशकः- साइस राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट बीकानेर   मूल्य ५ रु०

श्री बदरीप्रसाद जी साकरिया डिंगल साहित्य के असाधारण मर्मज्ञ हैं । आपने मुंहता नैणसी री ख्यात के ४ भागों के अतिरिक्त वर्षों तक 'राजस्थान भारती' का सुसंपादन किया है ।

डिंगल साहित्य में भाषा भाव और और शैली की दृष्टि से महाकविईसरदास की कृतियों का गौरवपूर्ण स्थान है । कविवर के लिखे समस्त ग्रंथो में आलोच्य ग्रंथ सर्वोत्कृष्ट माना गया हैं । इस भक्ति भाव भरे सरस प्रसाद गुण सम्पन्न ग्रंथ का सुसंपादन करके श्री साकरिया जी ने राजस्थानी साहित्य को एक अनुपम ग्रंथ रत्न भेंट किया है ।

ग्रंथारंभ में ४२ पृष्ठों की विद्वत्ता पूर्ण भूमिका में रचनाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व, हरिरस की उपलब्ध हस्त लिखित प्रतियों का परिचय, ग्रंथ की भाषा छंद विधान आदि आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है । ग्रंथ के अन्त में पांच परिशिष्ट हैं जिनमें क्रमशः अनुक्रमिक प्रथम पंक्ति–सूचि शब्द कोश, पाठान्तर, छोटा हरिरस तथा सुविस्तृत कथाकोश हैं । संपादक महोदय ने मूल ग्रंथ के प्रत्येक छंद का सुन्दर, भावपूर्ण और सरल अर्थ प्रस्तुत करके उसे सहज ग्राह्य बनाया है ।

भूमिका से पूर्व हरिरस के काव्य सौन्दर्य पर श्री चन्द्रदान चारण द्वारा प्रस्तुत विमर्शभी विद्वत्तापूर्ण है ।

संपादन कला, छपाई एवं सजावट की दृष्टि से आलोच्य ग्रंथ अतीव सुन्दर बनपाया है । एतदर्थ मान्य सम्पादक एवं इन्स्टिच्यूट दोनों हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं ।

दीनदयाल ओझा

"रक्तदान"

पता:- रक्तदान कार्यालय १५ ए/५८
हैस्टर्न एक्सटेंसन एरिया नई दिल्ली ५   मूल्य ५) वार्षिक

राष्ट्रीय रक्तदान आन्दोलन का मुख पत्र है । इस पत्र की यह विशेषता है कि यह राष्ट्ररक्षा में संलग्न हमारे वीरों की प्राणरक्षा के लिये रक्तदान की प्रेरणा के साथ

साहित्य सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान का प्रसार करता है वह समस्त राष्ट्र के लिये परम उपयोगी है। इसके ५ अंक निकल चुके हैं और प्रत्येक अंक लेखों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

मकरध्वज शर्मा

"समितिवाणी"

श्री मोहनलाल शर्मा एम.ए. द्वारा सम्पादित श्री हिन्दी साहित्य समिति, भरतपुर की त्रैमासिक पत्रिका, समिति वाणी, का वर्ष १ अंक १ हमारे सामने है। विद्वान् सम्पादक ने हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर अधिकारी विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेखों को प्रकाशित कर जिस उच्च-स्तरीय सामग्री को प्रस्तुत किया है वह प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

'समिति वाणी' में (१) साहित्य-सिद्धान्त (२) साहित्य का इतिहास, (३) अविदित साहित्य और साहित्यकार, (४) भाषा एवं भाषा शास्त्र, (५) साहित्य विचार विमर्श, (६) साहित्य की विधाएं, (७) हिन्दीतर, साहित्य, (८) दर्शन एवं धर्म तथा (९) क्षेत्रीय-साहित्य आदि नौ प्रमुख स्तंभ हैं। प्रकाशित लेखों में सर्व श्री रामानन्द तिवारी, मोतीलाल गुप्त, टीकमसिंह तोमर, किशोरीलाल गुप्त तथा पुत्तूलाल शुक्ल के क्रमशः रस की त्रिवेणी, सोमनाथ के ग्रंथों काव्य ग्रंथों का भाषा विषयक अध्ययन, सूदन और उनका सुजान चरित्र, नेवाज के आश्रयदाता आजमशाह तथा उनकी शकुन्तला के रचनाकाल एवं नाटकत्व पर विचार एवं तीन हजार वर्ष पहले चौपाई छंद के पूर्व रूप, शीर्षक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संपादक महोदय ने 'क्षेत्रीय साहित्य' स्तंभ के स्थान पर 'लोक साहित्य' शीर्षक रखा होता तो समस्त राजस्थान के लोक साहित्य को अभिव्यक्ति मिलती और क्षेत्रीय साहित्य का अन्तर्भाव भी उसमें अपने आप ही हो जाता।

छपाई और सफाई आकर्षक और वार्षिक मूल्य ६) है।

दीनदयाल ओझा

हिन्दी विश्वभारती समिति

श्रद्धाञ्जलि समर्पण

(१) स्वतन्त्र भारत के आदर्श प्रथम राष्ट्रपति महामहिम देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी महोदय।

(२) संस्कृत और भारतीय संस्कृति के अनन्य सेवक मान्य श्री बलवन्त नागेश दातार महोदय।

(३) भारतीय संस्कृत मण्डल के स्मरणीय अध्यक्ष महामान्य भारतन्यायाधीश श्री पतञ्जलि शास्त्री महोदय।

(४) राजस्थान के परम यशस्वी विद्वान् श्री पं० मल्लिनाथ जी चोमाल, चूरू।

(५) बीकानेर के आदर्श नागरिक श्री पं० सुजानमल जी पुरोहित।

(६) बीकानेरी साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के समुज्ज्वल रत्न रसिक शिरोमणि श्री डा० चाँदसिंह जी बीकानेर।

(७) आयुर्वेद कालेज के संस्थापक, आयुर्वेद के परम सेवक श्री पं० दीनानाथ जी वैद्य बीकानेर।

(८) नागरी के अविस्मरणीय सेवक, कर्मवीर श्री पं० लाभदत्त जी गड्डी व्यास बीकानेर

(९) साहित्य साधिका, महिला जागृति परायणा सुश्री सुबोधकुमारी जी बीकानेर

एवम्

अन्य समस्त राष्ट्ररक्षा में हुत भारतीय वरवीरों की पवित्र स्मृति में हिन्दी विश्व-भारती सादर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती है और इन दिवंगत महान् आत्माओं के असामयिक स्वर्गवास से भारतीय राष्ट्र, भारतीय संस्कृति, संस्कृत संसार, एवं बीकानेर मण्डल और बीकानेर नगर की जो अपार क्षति हुई है उसको प्रबल प्रकृति विधान के सम्मुख यथा कथंचित् सहकर प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह इनको चिरशान्ति प्रदान करे और इनके दिव्य कर्मों की स्मृति से राष्ट्र को सदैव कर्मपथ पर अग्रसर करे।

"साहित्य सत्कार"

प्रचलित सत्र की समाप्ति के अवसर पर विश्वभारती की ओर से राजस्थान के प्रख्यात विद्या महोदधि, आचार्य प्रवर श्री नरोत्तमदास जी की सेवा में अभिनन्दन पत्र समर्पित किया गया। श्री स्वामी जी संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी के माने हुए विद्वान् हैं और बीकानेर में राजस्थानी भाषा सम्बन्धी प्रत्येक प्रवृत्ति के आप आदि प्रेरक हैं। आपकी कृतित्व शक्ति आपके द्वारा सुसम्पादित एवं लिखित आपके अनेक ग्रंथों में विभाजित है और आपका महनीय व्यक्तित्व राजस्थान विद्या संसार में सबके लिये आदर्श स्वरूप है।

बिहारीलाल व्यास- मंत्री

विश्वंभरा प्रथम वर्ष लेख सूची

(लेखक अभिवादन)

विश्वंभरा प्रथम वर्ष पूर्णकर अब दूसरे वर्ष में प्रविष्ट हो रही है। इसके प्रथम भाग के प्रत्येक अंक का विद्वत्संसार ने जो स्वागत किया, तदर्थ यह अपने उद्भव को कृतार्थ समझती है और जिन मान्य लेखकों की कृपा से इसको यह सम्मान प्राप्त हुआ उनकी सेवा में यह आदर के साथ अपना अभिवादन समर्पित करती है।

(१) महा महोपाध्याय श्री गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी— यथार्थ मूल्यांकन (अंक १)

(२) डा. दशरथशर्म्मा एम्.ए.डी. लिट्— प्रतिहार साम्राज्य में पंचायती राज्य (अंक १) महाकवि माघ के वंशज कविवर मण्डन, माधव, माहुक और धांधल (अंक २) महाराजाधिराज सांवतसिंह के उपमाणु के तीन लेख, शब्दचर्चा-देहाऊ, देहविक, देहवाहक। ऐतिहासिक भूगोल-भादानक देश और बयाना नगर। राजस्थान और उत्तरदेश के दो पड्यायनी इकरार नामे (अंक ४)

(३) श्री उदयवीर शास्त्री— हर्ष सम्वत् (अंक १) राष्ट्ररक्षा के वैदिक वर्णन (अंक ४)

(४) प्रो. पुष्करदत्त शर्मा— वाचस्पति मिश्र द्वितीय (अंक १) संस्कृत साहित्य में नारद का वैविध्य (अंक ३) संस्कृत और रूसी भाषा में साम्य (अंक ४)

(५) महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वर नाथरेऊ— वैज्ञानिकों की दृष्टि में ईश्वर का अस्तित्व (अंक १) क्या एक वैज्ञानिक ईश्वर में विश्वास कर सकता है (अंक ३)

(६) आचार्य श्री शिव कुमार शुक्ल— नवदुर्गा और उनका वास्तविक स्वरूप (अंक १) भारतीय काल गणना का वैज्ञानिक आधार (अंक २) क्या रघुवंश एक असमाप्त महाकाव्य है? (अंक ३) हिमालय का दिव्य स्वरूप (अंक ४)

(७) श्री अगर चन्द नाहटा— स्वर विज्ञान सम्बन्धी हिन्दी राजस्थानी साहित्य (अंक १) कालिदास संबंधी रचनाएं (अंक ४)

(८) श्री बंशीराम शर्मा एम.ए.— भारतीय ज्योतिष का विस्मृत महत्व (अंक १) पण्डितप्रवर श्री कृष्ण चन्द्र (अंक ३)

(९) श्री प्रो. मनोहर शर्मा एम्. ए.— लोक कथाओं की सार्वभौमिकता (अंक १) एक लोक कथा मनुष्य का ह्रास (अंक २) दशांही अवतारां रा कवित्त (अंक ३) हम्मीरायण में जाज का चरित्र (अंक ४)

(१०) आचार्य श्री हनुमत् प्रसाद शास्त्री— भारत का पाशुपत विज्ञान (अंक ३) तुलसी में क्वचिदन्यतो ऽपि । एकबार इन उपायों की परीक्षा भी क्यों न की जाये (अंक ३)

(११) आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द मिश्र — हिन्दी कवियों पर क्षेमेन्द्र और श्री हर्ष की प्रतिच्छाया (अंक १) पाणीनि सूत्रों का लौकिक पक्ष (अंक ३)

(१२) श्री दिवाकर शर्मा (अंक १) ब्रह्मपुराण का ऋतु वर्णन और कालिदास (अंक १) समेक्षा आर्य सप्तशती (अंक २) राय विनोद (अंक ३) श्री हरिदेव कविका विचित्र पत्र (अंक ४)

(१३) प्रो. नरेशचन्द्र पाठक— महर्षि कृष्ण द्वैपायन (अंक १)

(१४) श्री दीनदयाल ओझा— राजस्थान की आंकिक लोकाभिव्यक्ति माडणा (अंक १) रूढिगत आकृतियाँ (माडणे) बनाने की प्राचीन परम्परा (अंक २) महाभारत में मरुधन्व प्रदेश का वर्णन (अंक ३) बीकानेर के प्राचीन और अर्वाचीन काष्ठ मूर्ति कलाकार (अंक ४)

(१५) पद्म भूषण श्री सूर्यनारायण जी व्यास – कथा भडोंच भृगुकच्छ है (अंक २)

(१६) डा. श्री ब्रह्मानंद शर्मा— स्वाभावोक्ति के आलोचकों का आलोचन (अंक २) अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंग अलंकारों की एक नव समीक्षा (अंक ३ ४) क्या अनुमान काव्यलिङ्ग से पृथक् अलंकार है (अंक ४)

(१७) आचार्य प्रवर श्री रामस्वरूप जी शास्त्री— स्वप्न-विज्ञान (अंक २) वैदिक विज्ञान में वाक्, मन और प्राण (अंक ४)

(१८) श्री रामचन्द्र पाण्डुरंग पटवर्धन— हमारी विस्मृत मंत्र महाविद्या (अंक २)

(१९) श्री ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा – प्राचीन भारत में शिक्षा-पद्धति (अंक २) प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा (अंक ३)

(२०) श्री मुनीश कुमार पाण्डेय— पौराणिक साहित्य (अंक २)

(२१) श्री [illegible] गोस्वामी— राजस्थानी में मानसिक शिष्ट-भाव निरूपणता (अंक २)

(२२) देवुरा— हरदिनो शुमारे (अंक २)

नवनिर्वाचित विश्वभारती प्रबंधसमिति एवं शिक्षा समिति

अध्यक्ष— विद्याभास्कर आचार्य श्री गौरीशंकर शास्त्री एम. ए.

कार्याध्यक्ष— विद्यावाचस्पति श्री विद्याधर शास्त्री एम. ए.

मन्त्री— गिरिधारी लाल व्यास एम. ए. बी. एड्.

अर्थ मन्त्री— श्री रामप्रसाद सहल बी. ए. ज्योतिष रत्न

सदस्य— श्री भगवानदत्त गोस्वामी मन्त्री बीकानेर साहित्य सम्मेलन

" प्रो० श्री मायेराम पालीवाल एम. ए. एम. एड्.

" श्री जानकीप्रसाद उपाध्याय एम. ए. बी. एड्.

" श्री शान्ति भण्डारी एम. ए.

" श्री दिवाकर शर्मा एम. ए. बी. एड्.

" आचार्य श्री शिवशंकर अग्निहोत्री

" सरदार श्री मदनसिंह जी एम. ए. राजकीय सदस्य

" श्री [illegible] स्वामी [illegible], श्री डा. [illegible] जी

" श्री [illegible], श्री [illegible] साहित्य रत्न

हिन्दी विश्वभारती के निबन्ध-पाठ और विशेष भाषण

(नवम्बर ६२ से मार्च ६३ तक)

१. श्री फाल्गुन जी गोस्वामी—गोस्वामी समाज के बीकानेरी कवि। गीता का वास्तविक संदेश।
२. श्री रामचन्द्र पटवर्धन—ताराग्रह शास्त्र और वर्तमान विज्ञान
३. श्री मालचन्द रतनगावत—श्री मोहबोध जी के व्यक्तित्व का वैविध्य
४. श्री गिरधारीलाल व्यास—बिहारी काव्यमाधुरी। प्रसाद के उपन्यास।
५. श्री शिवशंकर अग्निहोत्री—श्री चन्द्रदेव साहित्य का ऐतिहासिक पक्ष
६. श्री प्रो० कल्याण भारती—लघुत्रयी एवं वृहत्त्रयी।
७. आचार्य श्री शिवकुमार शुक्ल—काव्यों का वैयक्तिक आधार। धर्माधारित साहित्य। सांख्य और विवेकानन्द।
८. श्री प्रो० द्विजेन्द्रलाल पुरकायस्थ—संस्कृति और साहित्य।
९. श्री सुजानमल गोस्वामी—वर्तमान शिक्षाक्रम के पांच भाग। हमारा बाल-साहित्य। शक्तिवर्धक पौराणिक साहित्य।

गम का प्रधान स्रोत।

कवि।

चोचना के पाश्चात्य और पौरस्त्य

रग और बहिरंग परीक्षा।

अगाध अनुभवी विवेकानन्द

य काव्य।

।

परेषा न समाचरेत्।

हित्य।

र्तमान साहित्य।

गद्य।

। कवि।

शिक्षा की प्रधानध्येय :

हेत्यधारा।

व्यापक साहित्य-सेवा

दृष्टि-प्रचेत नहीं।

। ।

विश्वम्भरा पत्रिका

स्वामित्व सम्बन्धी तथा अन्य विवरण

१ प्रकाशन स्थान—	बीकानेर
२. प्रकाशन तिथि—	त्रैमासिक
३. मुद्रकनाम—	माहेश्वरी प्रेस
राष्ट्रीयता और पता—	स्टेशन रोड, बीकानेर
४. प्रकाशक नाम—	विद्याधर शास्त्री
राष्ट्रीयता और पता—	भारतीय, हिन्दी विश्वभारती, बीकानेर
५. सम्पादक नाम—	विद्याधर शास्त्री
राष्ट्रीयता और पता—	भारतीय, हिन्दी विश्वभारती, बीकानेर
६. पत्र के स्वामी और हिस्सेदारों, साझेदारों का पता जो मूलधन के एक प्रतिशत से अधिक हो।	हिन्दी विश्वभारती, बीकानेर (और कोई हिस्सेदार नहीं)

मैं विद्याधर शास्त्री घोषित करता हूँ कि ऊपर दिया गया विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सच है।

विद्याधर शास्त्री
प्रकाशक

बीकानेर
दिनांक ३१ मार्च १९६३